॥ श्रीः ॥

चौखम्भा संस्कृत भवन ग्रन्थमाला

३०

अभिनव

स्वस्थवृत्त

भाषाटीकासहित

लेखक

राजवैद्य, वैद्यसर्जन, कविराज,

डॉ. पं. अम्बिकादत्त शास्त्री

(ए.एम.एस., एम.ए.)

B. H. U. LIBRARY

Acc No. 780671

Date 8.1.2.03

चौखम्भा संस्कृत भवन

संस्कृत, आयुर्वेद एवं इंडोलाजिकल पुस्तकों के प्रकाशक एवं विक्रेता

पोस्ट बाक्स नं० ११६०

चौक, (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)

शरीर का पोषण एवं रक्षण करता है। इसीलिए शुद्ध रक्त को शरीर का जीव माना गया है—''रक्तं जीवमितिस्थितिः'' अतः शरीर में शुद्ध एवं पौष्टिक रसयुक्त रक्त का परिभ्रमण होते रहना अत्यावशक है।

रसपरिचयः—अहरहर्गच्छतीति रसः, तस्य च स्थानं हृदयं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य दश ऊर्ध्वगाः, दश अधोगाश्चतस्रश्च तिर्यगाः, कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति ।।

अशुद्ध रक्त की शुद्धि दोनों फुफ्फुसों में प्राणवायु द्वारा होती रहती है। अर्थात् सबल फेंफडे वायुमण्डल से श्वसन क्रिया द्वारा अधिक प्राण वायु का ग्रहण कर रक्त को शुद्ध करते रहते हैं। फुफ्फुसों को बलवान् बनाये रखने के लिए प्राणायाम अधिक उपयोगी प्रमाणित हुआ है। इस तरह प्राणायाम से शुद्ध हुआ रक्त सदा शरीर को मिलता रहने से आयु दीर्घ होती है। दुर्बल फुफ्फुस वाले व्यक्ति को बार-बार प्रतिश्याम, कास, कफोत्सर्ग, श्वास, उरस्तोय (प्ल्यूरसि) और राजयक्ष्मा जैसी बहुकष्टप्रद व्याधियां आक्रान्त कर लेती हैं। प्रतिदिन प्राणायाम करने से आयु बढ़ती है।

प्राणायामविधिः—प्राणायाम करने के लिए स्नान करके आसन पर बैठकर पलाती लगा के या पद्मासन लगाकर प्रथम दक्षिण हस्त के अंगुष्ठ से दक्षिण नासाभाग दबा के श्वास खींचते हुए गायत्री मन्त्र का एक से तीन बार यथाशक्ति उच्चारण कर मध्यमा और अनामिका अंगुलियों से वामनासा पुट को भी दबा दें तथा श्वास रोककर १ से ३ बार यथाशक्ति गायत्री मन्त्र जपें, फिर धीरे-धीरे दोनों अंगुलियों को शिथिल कर १ से ३ बार गायत्री मन्त्र जपते हुए-रोके हुए श्वास को बाहर धीरे-धीरे गायत्री मन्त्र जपते हुए निकालें।

सर्वप्रथम श्वास खींचना (Inspiration) पूरक प्राणायाम, मध्य में श्वास रोकना कुम्भक प्राणायाम तथा अन्त में श्वासोत्सर्ग करने को रेचक प्राणायाम संज्ञा दी है। इन त्रिविध प्राणायाम क्रियाओं के समय को धीरे-धीरे प्रतिदिन बढ़ाते रहना चाहिए जिससे मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है।

गायत्री शब्दार्थ—''गायान् प्राणान् त्रायते रक्षतीति गायत्री'' जो प्राणों की रक्षा करती हो उसे गायत्री कहते हैं।

सर्वविदित है कि गायत्री में २४ अक्षर कहे गये हैं किन्तु '' ओउम् भुर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'' इस लिखित गायत्री मन्त्र में २७ या २८ अक्षर गिनने से विदित होते हैं, इस शंका के निराकरणार्थ असली

गायत्री तत्सवितुर्वरेण्यं से ही शुरू होती है जिससे २४ अक्षर गिने जाते हैं। "भुर्भुवः स्वः" ये तीन तो गायत्री न हो के व्याहृतियाँ हैं। अर्थात् भुर्लोक (मर्त्युलोक), भुवर्लोक (पाताललोक) और स्वः से स्वर्गलोक गिना जाता है। प्रायः गायत्री मन्त्र के पहले ॐ लगाया जाता है। कुछ आचार्यों ने अन्त में दूसरा ॐ लगाना मानते हैं तथा अन्य आचार्य मध्य में तीसरा ॐ भी लगा के पश्चात् तत्सवितुः से गायत्री प्रारम्भ करते हैं। ॐ की गिनती गायत्री के अक्षरों में नहीं होती है। प्रायः किसी भी मन्त्र के पूर्व में ॐ लगाया जाता है। ॐ के अन्दर अ, उ, और म ये तीन अक्षर हैं जो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश (शंकर) इन तीनों के बोधक हैं। अर्थात् ॐ में अ, उ का गुण होने से ओ बनता है तथा अन्त में मकार है ही। वैसे तो गायत्री के शास्त्रों में अनेक गूढ़ अर्थ हैं किन्तु वास्तविक साधारण अर्थ निम्न है—

सूर्यदेव के (सवितुर्देवस्य) उस प्रशस्त तेज (तत्वरेण्यं भर्ग) का हम ध्यान करते हैं (धीमहि) जो (यः) हमारी (नः) अनके प्रकार की बुद्धियों को शुभ कार्यों में लगावें या प्रेरित करें।

प्राणायामगुणाः

न जातु रोगा जायन्ते फौफुसा भीमसंमताः।
दीर्घश्चायु र्भवत्येव प्राणायामपरस्य वै ।।

नित्य प्राणायाम करने वाले मनुष्य को भीमसंमत फुफुस रोग (श्वास, कास, क्षयादिक) कभी भी नहीं होते है तथा वह दीर्घ आयु वाला होता है।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धान् सदार्चयेत् ।। (वृन्दमाधव)

मनुष्य पूर्वा (प्रातःकालीन) तथा अपरा (मध्याह्न कालीन) सन्ध्या करते समय सूर्य के सामने खड़े हो कर गायत्री जप करे तथा देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु तथा वृद्धों का सदा पूजन-अभिवादनादि करते हुए पूजन करें।

सन्ध्योपासनगुणाः

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च ।। (मनुः)

प्राचीनकाल में ऋषि, महर्षि, मुनि दीर्घकाल तक संध्या (प्राणायाम और गायत्री जप तथा अभीष्ट देवताओं का अर्चन पूजन) करते रहने से दीर्घ आयु को प्राप्त हुए थे तथा प्रज्ञा (प्रकृष्ट बुद्धि), यश, कीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया था।

निष्कर्ष—भारतीय महर्षियों ने दीर्घायु तथा उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के अनुभव अपने ही शरीर पर करके प्रजा के हितार्थ उन्हें दैनिक नियमों में बद्धकर मानव जाति का बहुत कल्याण किया है।

सर्वेषां पापनाशनोपाया:

प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ।
क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।। (मनु. अ.५)

जिन मनुष्यों ने गुप्त पाप किये हों उनकी शुद्धि गायत्री आदि वैदिक मन्त्रों के जप करने से तथा वेदों को जानने वालों विद्वानों के पाप देवी-देवताओं की तपश्चर्या करने से, पण्डितों के षाप शान्ति धारण करने से एवं अकार्य (कुत्सित कर्म) करने वालों के पाप दान, धर्म एवं पुण्य कार्य करने से नष्ट होते हैं।

वर्तमान समय में भौतिकवाद से अन्धे हुए किन्तु सभ्य कहलाने वाले मानव नास्तिक बनकर ऋषि वाक्यों की अवहेलना कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप में दिन प्रतिदिन मानव जाति अनेक प्रकार के भयङ्कर संक्रामक रोगों से ग्रस्त होती जा रही है किन्तु अब पाश्चात्य देशों के विद्वानों को भारतीय आध्यात्मिकता में विश्वास होने लगा है तथा उनमें से अधिकांश गुणग्राही लोग धीरे-धीरे योगिक क्रियाओं की ओर आकृष्ट होते जा रहे हैं। वर्तमान समय में हरिद्वार निकटस्थ ऋषिकेश में अनेक पाश्चात्य विद्वान योगिराज महेश के आश्रम में निवास कर इन सिद्धियों का मनन कर लाभ उठा रहे हैं। प्राचीन वेद, वेदान्त, उपनिषत् एवं गहन पुराणादि शास्त्रों की ओर आकृष्ट होकर भारतीय सभ्यता एवं शान्तिमुनिवृत्ति की प्रणाली की ओर आकृष्ट होते जा रहे हैं। अतएव ऐसी आशा की जा रही है कि धीरे-धीरे मानव भौतिकवाद से त्रस्त होकर पुन: प्राचीन निवृत्तिमार्ग का आश्रय लेकर पवित्र नदियों के किनारों पर एवं शान्त वनों में आश्रम व्यवस्थानुसार निवास करते हुए आध्यात्मिक परम्पराओं का आश्रय लेकर अपने मानव जन्म को सफल (सार्थक) कर सकेगें।

अग्निहोत्रम्—इस तरह सन्ध्योपासना, प्राणायाम और गायत्री जप करने के पश्चात् अग्निहोत्र करना चाहिए। अग्निहोत्र के लिए तिल, यव, चावल, गूगल, जटामांसी आदि का चूर्ण तथा शुद्ध गायका घी मिला के शाकल्य बना लेना चाहिए तथा उससे हवन करें। गायत्री मन्त्र बोलते हुए अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिए। अग्निहोत्र के पवित्र धूम से वायुमण्डल शुद्ध होता है। गृह में तथा वायु-मण्डल में

विद्यमान अनेक रोगोत्पादक कीटाणुओं तथा उनके विषों का नाश हो जाता है एवं अनेक कलकारखानों के धुएँ से एवं विविध वस्तुओं के सड़ने से उत्पन्न हुई जहरीली गैसें भी नष्ट हो जाती हैं।

पूर्वकाल में कलकारखाने बहुत कम होते थे जिससे प्रायः वायुमण्डल शुद्ध रहता था, फिर भी यत्किञ्चित् होने वाली वायु की अशुद्धि को निरन्तर अग्निहोत्र तथा बड़े-बड़े यज्ञ यागादिकों में अनेक प्रकार की वनपस्तियों, तिल, यव, घृत और गूगल आदि का मन्त्रोच्चारण पूर्वक हवन नष्ट करते रहते थे जिससे मनुष्यों के श्वास मार्ग सम्बन्धी रोग एवं जीवाणुजन्य व्याधियाँ तथा बाधाएँ भी उत्पन्न नहीं होती थीं। वर्तमान में अधिकतर नास्तिकता में फंसे हुए लोग इन क्रियाओं को धार्मिक समझकर उनका प्रयोग व्यर्थ मानते हैं जिसके परिणामस्वरूप विविध रोग उत्पन्न हो रहे हैं।

यज्ञप्रयोग—सत्ययुग, द्वापर तथा त्रेता युगों में ऋषि, महर्षि अधिकतर यज्ञ किया करते थे तथा इन यज्ञों में बड़े-बड़े राजा भी भाग लेते और तन, मन तथा धन से पूर्ण सहायता करते थे। जैसे—अश्वमेध यज्ञ, गोमेधयज्ञ, विष्णुयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ इत्यादि।

यज्ञपात्राणां शुद्धिः

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
चमसानां ग्रहाणाञ्च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु॥
चरूणां स्रुक्स्रवाणाञ्च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
शूर्पस्य शकटानाञ्च मूसलोलूखलस्य च॥
अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते॥
चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानाञ्च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते॥
क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन च॥
प्रोक्षणात् तृणकाष्ठञ्च पलालं चैव शुद्ध्यति।
मार्जनोपाञ्जनै र्वेश्म पुनः पाकेन मृण्मयम्॥
मद्यै र्मूत्रैः पुरीषै र्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः॥
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृण्मयम्॥

(मनुस्मृति अ. ५)

यज्ञकर्म में प्रयुक्त होने वाले यज्ञपात्रों की शुद्धि केवल उन्हें हस्त से पोंछ देने से हो जाती है। चमसों एवं प्रोक्षणी की शुद्धि जल द्वारा धो देने से हो जाती है। चरु, स्रुक् एवं स्रुवा की शुद्धि उष्ण जल से करें। सूप, गाड़ी, मूसल और ओखली (धान खांडने) की शुद्धि गरम करने से या प्रोक्षण कर लेने से हो जाती है। बड़े धान्य और वस्त्रों की शुद्धि प्रोक्षण करने से तथा छोटे-छोटे धान्य वस्त्रों को जल से प्रक्षालित कर शुद्ध करें। चमड़े के पट्टों की शुद्धि भी कपड़ों के समान ही करें। वृक्षों के पत्तों से बने हुए पत्तल और दोनों की शुद्धि भी उन पर जल छिड़क के पोंछ लेने से हो जाती है। शाक, मूली, गाजर, शकरकन्द और फलों की शुद्धि धान्य के समान जल से धो लेने से हो जाती है। शंख, शृङ्ग तथा हाथी के दांतों से बने पदार्थों (पात्रों) की शुद्धि रेशम के बने वस्त्रों के समान होती है। अर्थात् इन्हें गरम पानी से धोकर धूप में सुखा के शुद्ध कर लेवें। अथवा गोमुत्र से या जल से धोकर शुद्ध कर लेने चाहिए।

तृण, काष्ठ और पुवाल की शुधि इन पर जल का छिड़काव कर देने से होती है। बुहारी से झाड़ने या गोबर जल से लीप देने से घर की शुद्धि हो जाती है, किन्तु मद्य, मूत्र, टट्टी, थूक, मवाद (पूय) और रक्त से स्पर्शित हुए या भरे हुए मिट्टी के पात्रों को दुबारा अग्नि में पका लेने से भी शुद्ध नहीं होते हैं। इन्हें फेंक देवें।

पादुकाधारणम्

चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम्॥ (च. सू. अ. ५)

पावों की रक्षा करने वाले उपकरण (जूते, खड़ाऊ, पावड़ियां) आदि के धारण करने से नेत्रों के लिए हितकारी है तथा भूमि के कंकड़, पत्थर, कांटों का बचाव होते रहने से स्पर्श में हितकर है एवं पावों की अनेक आपदाओं (सर्प, कीट आदि दंश बचाव) से रक्षा होती है, शरीर का बल बढ़ता है, किसी अनिष्ट निवारणार्थ पराक्रम करने में सुख होता है तथा वृष्य (काम) शक्ति बढ़ती है। वर्तमान समय में पावों के रक्षार्थ अनेक प्रकार के साधन (मोजे, चपलें आदि) बाजार में उपलब्ध होते हैं अतः आवश्यकता के अनुसार उनका सदुपयोग कर पावों की रक्षा करने से शरीर भी सुरक्षित रहता है।

पादत्रधारणम्

पादरोगहरं वृष्यं रजोघ्नं प्रीतिवर्धनम्।
सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम्॥

पावों में इधर उधर चलते फिरते समय अथवा काम पर जाने के लिए एवं कारखानों में काम करते समय जूते (बूट) पहनना पादरोगनाशक, धूलिनाशक, वृष्य, प्रसन्नतावर्धक, चलन में सुखदायी तथा बलकारक है।

पादत्रधारणाभावे हानिः

अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरूपघातकृत्।
पादाभ्यामनुपद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम्।।

(सु. चि. अ. २४)

जूते पहने बिना सदा घूमते रहने या चलने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं तथा आरोग्य एवं आयु के लिए अहितकर है तथा नेत्रों की शक्ति का नाश होता है। यद्यपि अनेक जैन साधु महात्मा इस क्षणभंगुर भौतिक शरीर में अनास्था रखते हुए सदा सभी ऋतुओं में नंगे पांव (बिना पादुका, चपल जूतों के) चलते रहते हैं फिर भी उनमें सरदी (ठंड) गरमी अथवा कोई नेत्ररोग नहीं होते हैं। इसका कारण उनके ब्रह्मचर्य, तेज, इन्द्रिय संयम तथा इन्द्रिय दमन और अभ्यास समझना चाहिए। इसी प्रकार अनेक काश्तकार, मजदूर तथा निम्नवर्ग के व्यक्ति भी अभ्यासवश एवं निर्धनता (गरीबी) वश नग्नपांव ही घूमते हैं, उन्हें भी कोई रोग नहीं होता है, यह सब अभ्यास के ऊपर निर्भर करता है फिर भी साधारणतया एवं समर्थ व्यक्तियों के पावों में खड़ाऊ, चप्पल और जूते पहनना पैरों की रक्षा करने का उत्तम साधन है तथा अनेक शिरोरोग एवं नेत्ररोगों से बचाव करने का साधन माना गया है।

छत्रधारणगुणाः

ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम्।
घर्माऽनिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते।। (च. सू. अ. ५)

उष्णता, गरम हवा, धूली तथा वर्षा से शरीर का संरक्षण करने के लिए छत्र का धारण कर बाहर निकलना श्रेष्ठ है एवं छत्रधारण करने से ईति (टिड्डी, काक, तोता) आदि के भय का निवारण होता है एवं बलकारक, शरीर रक्षक, आच्छादक एवं कल्याण कारक है तथा धूप, वायु, धूलि और वर्षा से रक्षा होती है।

दण्डधारणगुणाः

स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणाञ्च निषूदनम्।
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम्।। (च. सू. अ. ५)

दण्डधारण करने से मनुष्य चलते-चलते या ठोकर लगते समय गिरने से बच जाता है, दण्ड धारण किये हुए मनुष्य को देख के उसके शत्रु भी भाग जाते हैं। दण्ड धारण शरीर का अवष्टम्भक (गिरने से बचाने वाला सहायक) है तथा आयु के रक्षार्थ हितकारक और सर्वप्रकार के भय का नाशक है।

स्वधर्मानुसारजीविकाप्रशंसा

वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः ।
शममध्ययनञ्चैव सुखमेवं समश्नुते ।। (च. सू. अ. ५)

मनुष्य सदा अपने तथा कुटुम्ब के भरण-पोषणार्थ धर्म के अविरोधी जीवन के उपायों (साधनों) को करता रहे, जैसे शम (शान्ति) और वेद आदि का अध्ययन करे तथा दूकानदारी, नौकरी, कृषिकार्य, वस्त्र, भाण्डादि व्यापार जो भी अपनी योग्यता और भाग्यवश बिना छल कपट के उपलब्ध हो जाय उसे अन्य को हानि न पहुंचाते हुए कर्तव्यपरायण होके करता रहे। ऐसा करने से वह मनुष्य अपने जीवन में सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

शरीरोपस्तम्भवर्णनम्

''शरीरस्य त्रय उपस्तम्भाः, आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति, एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात्। संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य''
(च. सू. अ. १)

जिस तरह सीमेण्ट, चूना, ईंटों से बने मकान को स्थिर रखने के लिए उस पर चूने या सीमेण्ट का प्लास्टर कर रंगरोगन किया जाता है। उसी प्रकार इसी शरीररूपी मकान को स्थिर एवं स्वस्थ रखने के लिए तथा इसके रक्षार्थ आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य ये तीन उपस्तम्भ माने गये हैं। युक्तिपूर्वक सेवन किये गये इन तीन उपस्तम्भों से उपस्तब्ध (धारित या स्थिर) यह शरीर आयु के संस्कारों के अनुसार बल, वर्ण और पुष्टि से संयुक्त होकर विद्यमान रहता है किन्तु वह व्यक्ति अहितकारी खाद्यपेयों का सेवन न करता रहे तभी यह शरीर स्थिर रहता है। प्रातः कालीन शौच, स्नान, सन्ध्या तथा इष्ट देवोपासना करने के अनन्तर ऋतु तथा अपनी पाचकाग्नि के अनुसार क्षुधा लगने पर समय पर भोजन कर लेना चाहिए।

आहारविवेचनम् आहारपरिभाषा

''यदन्नमार्गद्वारा शरीरस्यान्तराह्रियतेऽसावाहारः''

अन्नमार्ग के द्वारा जो कुछ वस्तु शरीर के अन्दर आमाशय, ग्रहणी आदि में पहुँचाई जाती है उसे आहार कहते हैं। यद्यपि अन्नमार्ग के द्वारा शरीर के भीतर जल तथा औषधियाँ आदि भी ग्रहण की जाती हैं किन्तु ये आहार नहीं है। जल भोजन के पाचन में सहायक है तथा मूत्र और स्वेदरूप में निकले हुए रक्त के जल की कमी को पूर्ण करता है।

आहारगुणाः

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः।
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः॥

आहार (भोजन) तत्काल शरीर को तृप्त या पुष्ट करने वाला, बलकारक, देह को धारण करने वाला तथा आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज एवं पाचकाग्नि का वर्धक है इसीलिए आहार को शरीर के तीन उपस्तम्भों में से एक उपस्तम्भ माना गया है।

अन्न का महत्त्व

प्राणाः प्राणमृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णप्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥
लौकिकं कर्म यद् वृतौ स्वर्गतौ यच्च वेदिकम्।
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्।

प्राण (देह) को धारण करने वालों के लिए अन्न प्राण ही है इसीलिए संसार के सभी जीव अपने अपने (प्रकृति नियत) आहार को ग्रहण करने के लिए दौड़ लगाते (कर्म करते) हैं। अन्न के सेवन करने से शरीर के रङ्ग (वर्ण) की प्रसन्नता (स्वच्छता या चमकीलापन), उत्तम (स्पष्ट) स्वर (आवाज़), जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टि, पुष्टि, बल और मेधा (धारणाशक्ति) ये सब बढ़ते हैं। अर्थात् ये सब अन्न में ही प्रतिष्ठित हैं। जीविका निर्वाह के लिए व्यापार, नौकरी आदि लौकिककर्म तथा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञादि वैदिक कर्म एवं अपवर्ग (मोक्ष) के लिए जो ब्रह्मचर्य, ध्यान, अर्चना, समाधि आदि कर्म करने पड़ते हैं वे सर्व अन्न में ही प्रतिष्ठित हैं।

अन्तराग्निहवनम्

हिताभि र्जुहुयान्नित्यमन्तराग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥

मनुष्य समाहित (सावधान) हो के हितकारी अन्न और पान (पेयरूपी) समीधा

(इन्धन) से प्रतिदिन मात्रा और समय का विचार (ध्यान) करते हुए अन्तराग्नि (पाचकाग्नि) में हवन करता रहे। अर्थात् देश, काल, ऋतु, दोष आदि का विचार करते हुए भोजन करता रहे।

पथ्यान्नपानसेवनफलम्

आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च।।
नरं निःश्रयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने।
भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्यन्तरादृते।।

जो आहिताग्नि पुरुष सदा पथ्यकारक अन्न और पानों (पेय पदार्थों) का अन्तराग्नि (पाचकाग्नि) में हवन करता रहता है तथा प्रतिदिन ब्रह्म (गायत्री आदि) का जप करता है एवं दूसरों को भी गायत्री आदि का दान (उपदेश) करता हो, ऐसे हितकारी कार्य में लगे हुए तथा पान और भोजन में सात्म्य को समझने वाले मनुष्य को यदि पूर्वजन्मकृत भाग्यवश बीच में होने वाले रोगों के अतिरिक्त अन्य रोग नहीं होते हैं।

हितभोजी शतायुर्भवति

षट् त्रिंशतं सहस्राणि रात्रिणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम्।।

जितेन्द्रिय मनुष्य हितकारी भोजन करता रहता है वह रोगरहित रहता हुआ छत्तीस हजार रात्रियों तक (अर्थात् १०० वर्ष तक) जीवित रहता है।

भोजनकाल:

सायं प्रात्तर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः।।

श्रुति (वेद) शास्त्र के अनुसार मनुष्यों के लिए सायङ्काल और प्रातःकाल (९ से १२ बजे तक) ये दो ही भोजन समय निर्दिष्ट किए गए हैं। इन दोनों समयों के मध्य में भोजन विधान भी अग्निहोत्र के समान ही है। अर्थात् जैसे अग्निहोत्र प्रातः और सायङ्काल दो वार ही किया जाता है तद्वत् भोजन भी दो बार ही करें।

भोजनं कदा कार्यम्

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ।
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति।।

तथान्नश्रद्धायां क्षुदुपगमने कुक्षौ च शिथिले।
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः।।

मल और मूत्र के हो जाने पर, शरीर की समस्त इन्द्रियों के निर्मल होने पर तथा शरीर के हलके होने की अवस्था में एवं अपानवायु के ठीक निःसरण हो जाने पर तथा अन्नसेवन करने की श्रद्धा (इच्छा) एवं भूख की इच्छा होने पर और उदर विभाग की शिथिलता (हल्कापन प्रतीत होने की स्थिति) में उसे भोजन देना चाहिए। यही चिकित्सक के लिए उपयुक्त रोगी को भोजन देने का समय माना गया है।

अन्यच्च

क्षुत्संभवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च।
काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः।।

भूख के लगने पर तथा पूर्व में किये भोजन के रस, वातादि दोष तथा मल और मूत्र के पक जाने पर समय या असमय में जब भी भूख लग रही हो, वही अन्नग्रहण करने का समय माना गया है।

जीर्णाऽहारलक्षणम्

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्।।

शुद्ध डकार का आना, शरीर तथा इन्द्रियों में उत्साह का होना, मल, मूत्र आदि वेगों का यथोचित प्रमाण में एवं उचित समय पर होना, शरीर में लघुता (हल्केपन) की प्रतीति, क्षुधा (भूख) और प्यास का लगना ये सभी जीर्ण आहार (भोजन) के लक्षण हैं।

सञ्जातबुभुक्षायां भोजने न दोषः

अर्धरात्रेऽपि भुञ्जानः परमार्थं बुभुक्षितः।
क्षुधी वैद्यपरित्यागी व्याधिभि र्नाभिभूयते।।

अत्यधिक क्षुधा (भूख) के लगने पर आधीरात में भी भोजन करने वाला क्षुधातुर वैद्य के द्वारा मना करने पर भी रोगों से अभिभूत (पीड़ित) नहीं होता है।

भोजनसमयविवेचनम्

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत्।
याममध्ये रसोद्वेगो युग्मेऽतीते बलक्षयः।। (क्षे. कु.)

दिन के प्रथम प्रहर में (९ बजे तक) भोजन नहीं करना चाहिए तथा दो याम (प्रहर १२ बजे तक) के समय का उल्लंघन नहीं करे। अर्थात् ९ से १२ बजे के पूर्व तक अवश्य भोजन कर लें। प्रथम प्रहर में भोजन करने से रस का उद्वेग हो जाता है। अर्थात् विकृत रस की उत्पत्ति होती है एवं दो प्रहर के पश्चात् भोजन करने से शरीर के बल का क्षय होता है।

निष्कर्ष—९ बजे के पहले शरीर में पाचक रसों की ठीक उत्पत्ति पर्याप्त मात्रा में न होने से भोजन का पाचन पूर्णरूप से न होने से जो रस उत्पन्न होता है वह भी अपक्व या विकृत (आमदोष युक्त) ही होगा तथा दो प्रहर बीत जाने पर भी भोजन न करने से शरीर के बल की क्षीणता होगी, क्योंकि १२ बजे तक शरीर में जो पाचकरस उत्पन्न हुए हों वे भोजन न करने से अन्नके अभाव में अपना पाचक प्रभाव शरीर की धातुओं को पचाने में होगा जिससे शरीर के बल का क्षय होना स्वाभाविक है अत: प्रात: ९ बजे से १२ बजे तक अवश्य भोजन कर लें।

आद्रपादभोजनगुणा:

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नाद्रपादश्च संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।। (भे. अ. ४)

आहार (भोजन) ग्रहण करने के पूर्व भलीभांति शीतल जल से पावों को धोकर हस्त तथा मुख को भी धो लेवें एवं मूत्रादिक का वेग आया हो तो मूत्रादि का त्यागकर लेना अत्यावश्यक है। सदा गीले पांव कर भोजन करना चाहिए किन्तु गीले पांव शयन न करें। गीले पांव भोजन करने वाला व्यक्ति दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है। अनेक व्यक्ति भोजन प्रारंभ करने के पूर्व थोड़ा सा पानी पी लेते हैं किन्तु यह आदत ठीक नहीं है, भोजनारंभ के पूर्व जल पीने से आमाशय तथा ग्रहणी में जो भी पित्त तथा अन्य पाचक रस आये हुए होते हैं जल पीने से वे अधिक द्रव पास हो जाने से दुर्बल (अन्न पचाने में कम असर कारक) हो जाते हैं जिससे पाचकाग्नि (पाचकरस) मन्द हो जाती है। अत: भोजन के पूर्व जल नहीं पीना चाहिए।

भोजनपूर्वभोक्तुः कर्तव्यम्

स्नातः सुधौतमृदुसुन्दरशुक्लवासा-
स्तत्कालधोतचरणः प्रियपुत्रमित्रैः।
स्त्रग्वी प्रसन्नहृदयो रसपाकवेद्यां
भोक्ता प्रविश्य हितसात्म्यसमानवैद्यैः ।। (क्षे. कु.)

भोजनकर्ता प्रथम स्नान कर अच्छी प्रकार धुली हुई मुलायम, सुन्दर और श्वेत धोती पहन कर तत्काल पुनः पाद प्रक्षालन कर पुष्पमाला पहन के प्रसन्न हृदय से

अपने प्रिय पुत्रादिक तथा मित्रों के साथ रसपाकवेदी (रसोईघर) में प्रवेश कर हितकारक एवं सात्म्य (अपने अनुकूल) और अपने समान आशय (विचार) वाले लोगों के साथ हितकर तथा सात्म्य भोजन ग्रहण करें।

आसनोपविश्य भोजनम्

मृदुतूलमये स्थूले चारुवस्त्रावगुण्ठिते।
आसने प्राङ्मुखो भोक्तोपविशेद्वाप्युदङ्मुखः ।। (क्षे. कु.)

भोजनकर्ता मुलायम रुई से बने हुए तथा मोटे और सुन्दर वस्त्र (खोली) से ढके हुए आसन पर पूर्व या उत्तरदिशा में मुख कर भोजन करें।

भोजनकरणदिशाविवेचनम्

ऋणी चोदङ्मुखो भुंक्ते यशस्वी दक्षिणामुखः।

उत्तरदिशा में मुख कर के भोजन करने वाला व्यक्ति ऋणी (कर्जदार) होता है तथा दक्षिण दिशा में मुख करके भोजन करने वाला यशस्वी होता है।

भोजनग्रहणे विशेषविवेकः

उत्तरदिशा की ओर मुख करके भोजन नहीं करना चाहिए। दुःखित मन से भोजन न करें। अपने अभक्त (शत्रु), अशिष्ट (व्यवहार शून्य), अपवित्र, क्षुधा (भूख) से पीड़ित परिचरों (भृत्यों) के होने पर उनके साथ बैठ के भोजन नहीं करना चाहिए। अशुद्धपात्र, टूटे-फूटे पात्र तथा ताम्रपात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। खराब स्थान में, बिना भोजन के समय में, अधिक मनुष्यों से खचा-खच भरे स्थान में बैठ के भोजन नहीं करना चाहिए। अग्नि को बिना अर्पित किए शुद्ध जल से अन्न को बिना प्रोक्षित किए एवं मन्त्रों से बिना अभिमन्त्रित किए भोजन न करें। भोजन की निन्दा करते हुए तथा निन्दित (शास्त्रनिषिद्ध) भोजन न करें। जो अपना पूर्वद्वेषी हो तथा अपनी निन्दा करता हो एवं अपना अभीष्ट या हितचिन्तक न हो उसके द्वारा परोसा हुआ भोजन न करें। मांस, हरे और शुष्कशाक, फल और भक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ पर्युषित (बासी) हो उन्हें सेवन न करें। थाली या पत्तल में परोसे हुए सभी भोज्यों को सम्पूर्णरूप से न खावें। किन्तु दही, शहद, लवण, जल, सत्तू और घृत को पूर्णरूप से सेवन कर लें। अर्थात् इन्हें थाली में झूंठा न छोड़ें।

प्रातःकाल का बनाया हुआ भोजन सन्ध्या के समय किया जा सकता है किन्तु रात्रि में बनाया हुआ भोजन विशेषकर दाल, भात, खिचड़ी इन्हें दूसरे दिन न खावें क्योंकि इसमें कुछ सड़ान होने से दुर्गन्ध आने लगती है। घृत तथा तैल में तले हुए पदार्थ दूसरे दिन भी खाये जा सकते हैं। संक्षेप में जिस खाद्य पेय में दुर्गन्ध आने लग जाय, जिसमें सफेद तार बन्धने लग जाय या तांते छुटने लग जांय, या तो अन्न

चिपचिपा हो गया है, जिसका वर्ण बदल गया हो, जिसके स्वाद में अम्लता या कसेलापन आ गया हो वैसे खाद्यपेयों का सेवन नहीं करना चाहिए।

सुश्रुतमतानुसारभोजनविचार:

सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः ।
काले सात्म्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम् ।।
बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद्विदितागमः ।। (सु. सू. आ. ४६)

आयुर्वेद शास्त्र के मत को जाननेवाला बुभुक्षित व्यक्ति सुखपूर्वक उच्चासन पर बैठकर शरीर को समानावस्था में रख के अर्थात् टेढ़ामेढ़ा न बैठ के सीधे बैठकर अन्न में मन को लगाके भोजनकाल में क्षुधितपुरुष सात्म्य (हितकर), पचने में हल्का, स्निग्ध, तत्काल भोजन करते समय उष्ण किया हुआ एवं द्रवोत्तर (अन्त में क्षीर दुग्ध) भोजन करें।

कीदृशमन्नं भोजनाय देयम्

विषघ्नैरगदैः स्पृष्टं प्रोक्षितं व्यजनोदकैः ।
सिद्धैर्मन्त्रैर्हतविषं सिद्धमन्नं निवेदयेत् ।।

विषनाशक अगदों (कल्पस्थानोक्त औषधियों) से स्पर्श किया हुआ, (पानी में गीले किए हुए पंखे के जल से प्रोक्षित (छिड़का) हुआ तथा सिद्ध मन्त्रों द्वारा विष नष्ट किया हुआ सिद्ध अन्न भोक्ता को परोसना चाहिए।

हितकरमन्नम्

विशिष्टमिष्टसंस्कारैः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः ।
मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम् ।। (सुश्रुत)

अभीप्सित विशिष्ट संस्कारों से संस्कृत तथा अभीष्ट और पथ्य (हितकारी) मधुराम्लादि रसादिको वाला तथा मन को प्रिय लगने वाला, पवित्र, मन्दोष्ण तथा तत्काल बनाया हुआ भोजन हितकर होता है।

भोजनप्रशंसाफलम्

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ।।
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जाञ्च यच्छति ।
अपूजितन्तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ।। (मनु)

भोक्ता सदा भक्ष्य एवं भोज्यादि पदार्थों का पूजन (सन्मान) करे तथा उनमें किसी भी प्रकार की त्रुटि (मीनमेख) न निकालते हुए उनका सेवन (भक्षण) करे।

भोजन को सामने आया या पीरोसा हुआ देख के हर्षित (प्रफुल्लित) एवं प्रसन्न होना चाहिए तथा उस भोजन की तारीफ (प्रशंसा) करनी चाहिए। इस प्रकार नित्य पूजित (प्रशंसित) अन्न का सेवन शरीर में बल और ऊर्जा (शक्ति) को बढ़ाता है किन्तु बिना प्रशंसा किये खाया हुआ भोजन शरीर के बल और शक्ति को नष्ट करता है।

मौनी भुञ्जीत

भुञ्जानो न बहु ब्रूयान्न निन्देदपि कञ्चन।
जुगुप्सितां कथां नैव शृणुयादपि वा वदेत्।।

भोजन करता हुआ मनुष्य अधिक गपशप न करे तथा किसी की भी निन्दा न करे एवं जुगुप्सित (बीभत्स) कथा न सुने तथा स्वयं भी वैसी कथा न करे।

क्षुधार्तानां भोजनकालमर्यादा नास्ति

अर्धरात्रेऽपि भुञ्जानः परमार्थं बुभुक्षितः।
क्षुधी वैद्यपरित्यागी व्याधिभि र्नाभिभूयते।। (वृन्दमाधव)

वास्तव में अत्यधिक भूख लगने पर अर्धरात्रि में भी भोजन करने वाला मनुष्य भूख से पीड़ित हो तो वैद्य के द्वारा भोजन करना मना करने पर भी रोगों से पीड़ित नहीं होता है।

भोजनकालनिर्णयमतान्तरम्

अतीवायतयामास्तु क्षपा येष्वृतुषु स्मृताः।
तेषु तत्प्रत्यनीकाढ्यं भुञ्जीत प्रातरेवतु।।

जिन शीत ऋतुओं में अधिक लम्बे प्रहर (याम) वाली रात्रियां होती हैं, उनमें याम मध्य में (९ बजे के पहले) भोजन न करने का जो नियम है, उसके विपरीत भी प्रातःकाल (प्रथम प्रहर) ही में भोजन कर लेना चाहिए।

भोजनकालमतान्तरम्

येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः।
तेषु तत्कालविहितमपराह्ने प्रशस्यते।।

जिन ग्रीष्मादि ऋतुओं में दिन बहुत बड़े होते हैं रात्रियां छोटी होती हैं उनमें उस समय के विचार से रात्रि के प्रथम प्रहर में किया जाने वाला भोजन अपराह्न में (३ बजे के बाद) भी कर सकते हैं।

भोजनकालमतान्तरम्

रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः।
कृत्वा सममहोरात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम्।।

जिन ऋतुओं में रात्रियां तथा दिन बराबर (समान) होते हैं, उनमें दिवस और रात्रि का समान हिसाब करके साधारणकाल में अर्थात् भूख लगने पर भोजन कर लेना चाहिए।

वीर्याऽविरुद्धभोजनम्

वीर्याऽविरुद्धमश्नीयात्, अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि न विरुद्धवीर्याहारजैर्विकारैरयमुपसृज्यते, तस्माद्वीर्याविरुद्धमश्नीयात् ।।

अविरुद्धवीर्य वाले पदार्थों का भोजन करने से वीरुद्धवीर्य युक्त आहार सेवन जन्य रोगों से आक्रान्त नहीं होता है। अत एव सदा शीतोष्णादिवीर्य के अविरुद्ध भोजन करना चाहिए।

अभीष्टस्थानभोजनम्

''इष्टे देशेऽश्नीयात्-इष्टे देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविधातं प्राप्नोति, यथेष्टैः सर्वोपकरणैः, तस्मादिष्टे देशे, यथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्''

अपने मन के अनुकूल स्थान में बैठ के भोजन करना चाहिए। उत्तम स्थान में बैठके आवश्यकरूपी सामग्री के सहित भोजन करने से मनोविधात (मनमलिन) नहीं होता है।

शीघ्रभोजनकरणनिषेधः

''नातिद्रुतमश्नीयात्, अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसदनं, भोजनस्याप्रतिष्ठानं, भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता, तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात्''

अत्यन्त शीघ्रता से भोजन नहीं करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्र भोजन (जल्दी-जल्दी) करने से आहारगत स्नेह का प्रभाव शरीर पर नहीं होता है, सुस्ती प्राप्त होती है, उदर में भोजन ठीक स्थान पर जमता नहीं है तथा भोजन के दोष और गुणों का शरीर पर प्रभाव ठीक नहीं होता है।

अतिविलम्बितभोजननिषेधः

नातिविलम्बितमश्नीयात् अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहुभुंक्ते, शीतिभवति चाहारजातं, विषमपाकश्च भवति तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात्''

अधिक देर तक बैठे-बैठे (धीरे-धीरे) भोजन नहीं करना चाहिए। धीरे-धीरे

भोजन करने से तृप्ति प्राप्त नहीं होती है तथा भोजन भी अधिक करने में आता है तथा भोजन भी ठंडा हो जाता है, आहार का पाक भी विषम होता है, अतः अधिक देर तक भोजन करते रहना उचित नहीं है।

मौनादिनियमपूर्वकभोजनम्

''अजल्पन्, अहसन्, तन्मना, भुञ्जीत, जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवातिद्रुतमश्नतः, तस्माद जल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत''

बिना बोलते हुए, बिना हँसते हुए एवं तन्मन अर्थात् तल्लीन हो के या चित्त लगाके भोजन करना चाहिए, ऐसा न करने से अर्थात् बोलते, हँसते एवं अन्यमन एक हो के भोजन करने से वे ही दोष उत्पन्न होते हैं जो अत्यन्त शीघ्र भोजन करने वाले के कहे गये हैं, इसलिए बिना बकवाद किए वगैर हँसते हुए एवं तल्लीन हो के भोजन करना चाहिए।

आत्मेच्छानुरूपभोजनम्

''आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्, इदं ममोपशेते, इदं नोपशेते, इति विदितं ह्यस्य आत्मन आत्मसात्म्यं भवति, तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति'' (च.वि.अ.१)

अपनी आत्मा (प्रकृति आदि) का ठीक विचार कर भोजन करना चाहिए। अर्थात् यह भोजन मेरे लिए हितकर है तथा अमुक भोजन हितकर नहीं है ऐसा विचार कर के भोजन करें, जिससे अपने लिए कौन सा भोजन हितकर है कौन सा हितकर नहीं है ऐसा जान लेना ही आत्मसात्म्य (आत्महितकर) है। अतः सदा आत्मा का हितकारी जान के ही भँली प्रकार से भोजन करना चाहिए।

अप्राप्तकालभोजने रोगाः

नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा।
अप्राप्तकालं भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः।।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति।।

समय के पूर्व अथवा समय व्यतीत हो जाने पर अथवा अल्प या अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि भोजन का समय प्राप्त न होने पर भोजन करने वाला तथा शरीर के हल्का न होने पर भोजन करने वाला उन अनेक प्रकार की व्याधियों (अग्निमान्द्यादिरोगों) को प्राप्त करता है अथवा मृत्यु को भी प्राप्त कर सकता है।

अतीतकालभोजने दोषाः

अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न कांक्षति ।
प्रातराशेत्वजीर्णेऽपि सायमाशी न दुष्यति ।।

(सु. सू. अ. ४६)

समय के बीत जाने पर भोजन करने वाले मनुष्य की पाचकाग्नि के वायु द्वारा विकृत हो जाने पर खाया हुआ अन्न कष्ट से पचता है तथा दूसरे समय के भोजन की इच्छा नहीं होती है। प्रातःकालीन भोजन के न पचने पर भी यदि सायङ्काल में भोजन किया जाय तो वह दूषित नहीं होता है।

दिवाभोजनगुणाः

दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ।
तस्मिन् विबुद्धे स्त्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ।
व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ।।
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनाऽस्य धातवः ।
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति ।।
अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम् ।
नैव दुष्यति तेनैव समं सम्पद्यते यथा ।।

दिवस में सूर्योदय होने से जैसे कमल खिल जाता है तद्वत् मनुष्य का हृदय भी खिल जाता है तथा हृदय के खिल जाने पर उससे सम्बन्धित सभी स्त्रोतस भी खिल (विकसित हो) जाते हैं, क्योंकि दिवस में परिश्रम करने से, सोचने-क्चिारने से तथा चित्त के पलायमान होने से रसादि धातुएं क्लेद को प्राप्त नहीं होती हैं, अतएव उन अक्लिन्न धातुओं में पड़ा हुआ संध्या का अन्न दूषित नहीं होता है; जैसे बिना गरम किये हुए दुग्ध में अन्य कच्चा दुग्ध मिला देने से वह दूषित नहीं होता है, अपितु पूर्व के दुग्ध के साथ भली-भाँति मिश्रित हो जाता है तद्वत् भोजन या रस भी मिल जाता है।

रात्रिभोजनदोषाः

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च ।
यान्ति कोष्ठे च विक्लेदं संवृते देहधातवः ।।
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पयःस्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ।।

नैशेस्वाहारजातेषु नाभिपक्वेषु बुद्धिमान् ।
तस्मादन्यत् समश्नीयात् पालयिष्यन् बलायुषी ।।
(च. चि. अ. १५)

रात्रि में हृदय के म्लान या कुछ संकुचित (अल्पकार्य कर) होने से तथा स्रोतसों के संकुचित होने से संवृत कोष्ठ (आमाशयादि) में शरीर की रसरक्तादि धातुएँ क्लेद को प्राप्त हो जाती हैं, जिस प्रकार गरम किये हुए दुग्ध में अन्य कच्चा दुग्ध मिलाने से वह बिगड़ (फट) जाता है, उसी प्रकार रात्रि में खाये हुए उस अपक्व क्लिन्न आहार में प्रातः थोड़ा खाया हुआ आहार दूषित हो जाता है। अत एव शरीर के बल तथा आयुष्य के पालनार्थ मनुष्य को रात्रि में किये हुए भोजन के ठीक पच जाने पर ही प्रातः भोजन करना चाहिए।

आहारविधिविशेषायतनानि

''तत्र खल्विमान्यष्टाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति तद्यथा-प्रकृति-करणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति'' (च. चि. वि. अ. १)

चरकाचार्य ने आहारविधि के निम्न आठ विशेष आयतन लिखे हैं। जैसे प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था तथा उपयोक्ता (भोक्ता)।

प्रकृति—''तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः तद्यथा-माषमुद्गयोः शूकरैणयोश्च''

प्रकृति का तात्पर्य स्वभाव है जो आहार तथा औषध द्रव्यों का स्वाभाविक गुरु, लघु आदि गुणों का योग है, उदाहरणार्थ माष (उड़द) स्वभाव से ही गुरु (पचने में भारी) तथा मूंग लघुपाकी (पचने में हल्के) होते हैं। सूअर का मांस स्वभाव से ही गुरु तथा मृग का मांस स्वभाव से लघु (पचने में) होता है। अतः भोजन करते समय भोज्य पदार्थों की प्रकृति विचार करके ही भोजन करना चाहिए।

करण—''करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते, ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौच-मन्थनदेशकालवशेन भावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते''

स्वाभाविक द्रव्यों के अभिसंस्कार को कहते हैं। संस्कार से द्रव्यों में नूतन गुण आते हैं तथा ये गुण जल और अग्नि के संयोग (द्रव्यों को उबालने) से तथा स्वच्छता, मंथन (जैसे कि मंथन से छाछ) देश, काल के कारण एवं भावना देने से तथा अधिक समय तक किसी पात्र विशेष में रखने से उत्पन्न होते हैं।

संयोग—"संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतिभावः स विशेष-मारभते, यन्नैकदेशो द्रव्याणामारभन्ते, तद्यथा मधुसर्पिषो मधुमत्स्यपयासां च संयोगः"

दो अथवा दो से अधिक आहार द्रव्यों के एकसाथ मिलाने को संयोग कहते हैं तथा संयोग से ही द्रव्यों में विशेषता प्रकट होती है जो अकेले में नहीं होती। जैसे शहद और घृत का समान प्रमाण में विष के समान तथा असमान प्रमाण में अमृत तुल्य कार्य करना। उसी प्रकार शहद, मच्छली और दुग्ध का संयोग भी विष के समान हो जाता है।

राशि—"राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ, मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः, तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः, परिग्रहश्च पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकत्वेन आहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते।। (च. वि. अ. १)

सर्वग्रह तथा परिग्रह का नाम राशि है, जो मात्रा तथा अमात्रा के फल का निश्चय करने के निमित्त बनाई गई है। किसी भी एक ही प्रकार के भोज्य द्रव्य को अपनी आवश्यकता की मात्रा या राशि में न ले के सर्वप्रकार के भोजन द्रव्यों में से थोड़ा-थोड़ा लेकर अपने उदर की समाई अथवा इच्छा के अनुसार भोजन की राशि की पूर्ति करना सर्वग्रह कहलाता है तथा पृथक्-पृथक् एक-एक द्रव्य के प्रमाण को ग्रहण करने को परिग्रह कहते हैं। अर्थात् सर्वभोज्य द्रव्यों का एकरूप में ग्रहण सर्वग्रह तथा पृथक् प्रमाण ग्रहण को परिग्रह कहते हैं।

देश—"देशः पुनः स्थानं, द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारो देशसात्म्यञ्चाचष्टे"

देश स्थान या स्थल को कहते हैं। औषध द्रव्यों की उत्पत्ति आनूपदेश, जांगलदेश या साधारणदेश में हुई है, इसका विचार करके उनका रोगनाशार्थ उपयोग किया जाता है; इसी को देशसात्म्य कहते हैं।

काल—"कालो नित्यगश्चावस्थिकश्च, तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु खल्वृतुसात्म्यापेक्षः"

काल (समय) नित्यग और आवस्थिक दो प्रकार का होता है। आवस्थिक काल विकार की अपेक्षा करता है। नित्यगकाल ऋतुसात्म्य की अपेक्षा करता है।

उपयोगसंस्था—"उपयोगसंस्थातूपयोगनियमः जीर्णलक्षणापेक्षः"

भोजन के उपयोग (ग्रहण) करने के नियम जिसमें हो उसे कहते हैं। यह भोजन पच जाने के लक्षणों की अपेक्षा करता है। अर्थात् प्रथम किया भोजन पच जाने पर ही दुबारा भोजन करें।

उपयोक्ता—''**उपयोक्ता, पुनर्यस्तमाहारमुपयुंक्ते यदायत्तमोकसात्म्यम्**''

जो उस आहार का उपयोग करता है तथा उपयोक्ता के आधीन ही ओकसात्म्य रहता है।

ओकसात्म्य—जो वस्तु निरन्तर सेवन करने से अनुकूल हो जाती है उसे ओकसात्म्य कहा गया है।

इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि व्याख्यातानि भवन्ति, तान्, बुभुत्सेत् बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात्। न च मोहात् प्रमादाद्वा प्रियमहित-मसुखोदर्कमुपसेव्यमाहारजातमन्यद्वा किञ्चित्।। (च. वि. अ. १)

उपसंहार—इस तरह ये आठ आहारविधि के विशेष आयतन (नियम या विचार) हैं। इनका महत्त्व शुभ या अशुभ फल देने वाला है। अर्थात् इन पर विचार कर भोजन करने से शुभ (आरोग्य) की प्राप्ति होती है तथा विचार न कर भोजन करने से अशुभ (रोगों) की उत्पत्ति होती है। ये आठ विशेषताएँ एक दूसरे की उपकारक भी हैं, अतः इन्हें समझकर सदा हितकारक आहार तथा विहार का उपयोग करें। मोह (अनुराग या अज्ञान) से या प्रमाद (लापरवाही) से इन्द्रियादिकों के प्रिय होते हुए भी अहित (रोग) कारक तथा भविष्य में अशुभपरिणाम करने वाला कोई भी आहार अथवा अन्य वस्तु (विहारादिक) का सेवन नहीं करना चाहिए।

आहारविधिविधानसाद्गुण्यवर्णन—

''**तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः, यथा—उष्णमश्नीयात् उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तश्चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रञ्च जरां गच्छति, वातञ्चानुलोमयति, श्लेष्माणञ्च परिशोषयति, तस्मादुष्णमश्नीयात्**''

आहार विधि-विधान के अनुसार भोजन करने से जो साद्गुण्य (उत्तम फल) प्राप्त होता है उसका वर्णन (उपदेश) करते हैं, जैसे सदा उष्ण अर्थात् अपने शरीर की उष्णतानुसार उष्ण भोजन करना चाहिए। उष्ण भोजन स्वादिष्ट लगता है, पाचकाग्नि को बढ़ाता है, शीघ्र ही पच जाता है, वायु का अनुलोमन (विनाश या संशमन) करता है, तथा बढ़े हुए कफ को सुखाता है, अतः सदा उष्ण भोजन करें।

स्निग्धमश्नीयात्

''**स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तश्चौदर्यमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोति शरीरोपचयं, बलाभिवृद्धिञ्चाभि-जनयति, वर्णप्रसादमपि चाभिनिर्वर्तयति, तस्मात् स्निग्धमश्नीयात्**''

सदा स्निग्ध भोजन करना चाहिए। स्निग्ध भोजन स्वादिष्ट, पाचकाग्निवर्धक, शीघ्र पचने वाला, वातसंशामक, शरीर के अंग-प्रत्यंगों को दृढ करनेवाला,

बलवर्द्धक, एवं शरीर के वर्ण को बढ़ाता है, अतः थोड़ा घना स्नेह (घृत या तैल) मिला के भोजन करना चाहिए।

मात्रावदश्नीयात्—

मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्तकफानप्रपीडयेदायुरेव विवर्धयति केवलं, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथञ्च परिपाकमेति, तस्मान्मात्रावदश्नीयात्'' (च. वि. अ. १)

योग्य (उचित) मात्रा में भोजन करें। योग्य मात्रा में किया हुआ भोजन वायु, पित्त और कफ को बिना कुपति किए केवल आयु की ही वृद्धि करता है, तथा पाचन होने के पश्चात् उससे बना हुआ पोष्यरस एवं मल भागों में विभक्त हो जाता है तथा पोषक रस रक्त में मिलकर रक्त भ्रमण विधि से एवं त्याज्य मलरूप में गुद के विभाग तक पहुंच जाता है। शरीर की गरमी को नष्ट नहीं करता है, बिना कष्ट के पच जाता है अतः सदा मात्रापूर्वक भोजन करना स्वास्थ्य रक्षण एवं बलवर्धन तथा रोगों से बचने का एक मात्र श्रेष्ठ उपाय है। जैसाकि ''कम खाना और गम खाना'' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है।

आहारविधिविधानगुणाः

''तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणाञ्च केषाञ्चित् काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानां भवति। उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याऽविरुद्धमिष्टेदेशे, इष्ट सर्वोपकरणं नातिद्रुतं, नातिविलम्बितं न जल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्'' (च. वि. अ. १)

यहाँ जो आहारविधिविधान कहा गया है, वह रोगहित तथा योगयुक्त कुछ पुरुषों के लिए हैं। जैसे उष्ण तथा स्निग्ध भोजन करें, इस प्रकार पूर्व में तथा आगे कहे जाने वाले कतिपय आहारविधिविधान योग्य समय में प्रकृति से ही अत्यन्त हितकारक भोजन करने वाले अरोगी (स्वस्थ) अथवा रोगी कोई भी हों उभय के लिए हैं, जैसे उष्ण, स्निग्ध, मात्रापूर्वक, पूर्व किए हुए भोजन के जीर्ण हो जाने पर, अविरुद्धवीर्ययुक्त, अभीष्ट स्थान में इच्छित या आवश्यक सर्व उपकरणों (सामग्री) के सहित, न अत्यन्त शीघ्र और न अत्यन्त देरी से (धीरे-धीरे), न बातचीत करते हुए, न हंसते हुए, भोजन में मन लगाकर तथा अपनी आत्मा (प्रकृति) का ठीक विचार करके भोजन करना चाहिए।

अथ द्वादशाशनप्रविचाराः

''तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिकद्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः''

इसी प्रकार एकबार भोजन, द्विवार भोजन, औषधयुक्त भोजन, मात्रा से हीन

भोजन तथा तीनों दोषों की शान्ति के निमित्त विचार करके भोजन करना चाहिए तथा वृत्त्यर्थ अर्थात् शरीरधारणार्थ ऐसे भोजन करने के बारह विचार हैं।

शीतान्नयोग्यपुरुषाः

तृष्णोष्णमददाहार्तान् रक्तपित्तविषातुरान्।
मूर्च्छार्तान् स्त्रीषु च क्षीणान् शीतैरन्नैरुपाचरेत्।।

तृषा, उष्णता, मद और दाह से पीड़ित, रक्तपित्त तथा विष से व्याप्त, मूर्च्छित और अधिक स्त्रीसंभोग करने से क्षीण हुए पुरुषों को शीत प्रकृति वाले अन्न का सेवन करा के उनकी चिकित्सा करें।

उष्णान्नयोग्यपुरुषाः

कफवातगमयाविष्टान् विरिक्तान् स्नेहपायिनः।
प्रक्लिन्नदेहांश्च नरानुष्णैरन्नैरुपाचरेत्।।

कफ और वायु के रोगों से पीड़ित, विरेचन लिए हुए, स्नेहपान किये हुए तथा क्लिन (गीली) देह वालों को उष्ण भोजन देते हुए चिकित्सा करें।

स्निग्धान्नयोग्यपुरुषाः

वातिकान् रूक्षदेहांश्च व्यायामोपहतांस्तथा।
व्यायामिनश्चापि नरान् स्निग्धैरन्नैरुपाचरेत्।।

वातरोगी, रूक्षशरीर वाले, व्यायाम (परिश्रम) से पीड़ित तथा व्यायाम करने वालों को स्निग्ध अन्न देते हुए चिकित्सा करें।

रूक्षान्नयोग्यपुरुषाः

मेदसाभिपरीतांस्तु स्निग्धान् मेहातुरानपि।
कफाभिपन्नदेहांश्च रूक्षैरन्नैरुपाचरेत्।।

जिनके देह में चरबी अधिक बढ़ गई हो, स्निग्ध प्रकृति वाले, प्रमेही तथा कफ युक्त पुरुषों को रूक्ष अन्न (जवार, बाजरा) खाने को देवें।

द्रवशुष्कान्नयोग्यपुरुषाः

शुष्कदेहान् पिपासार्तान् दुर्बलानपि च द्रवैः।
प्रक्लिन्नकामांश्च व्रणिनः शुष्कै र्मेहिनमेव च।।

शुष्क देह वाले, प्यासे तथा दुर्बल मनुष्यों को द्रवान्न (क्षीरान्न) खिलावें तथा क्लिन्न शरीर वाले, व्रण और प्रमेह के रोगियों को शुष्क भोजन देवें।

एकद्विकालिकान्नयोग्यपुरुषाः

एककालं भवेद्देयो दुर्बलाग्निविवृद्धये ।
समाग्नये तथाऽऽहारो देयः कालमथोभयम् ।।

दुर्बलाग्नि वाले रोगियों की पाचकाग्नि बढ़ाने के लिए एक दिन में एक बार ही आहार देना चाहिए तथा जिन रोगियों की पाचकाग्नि समान हो उनको दिन में दो बार भोजन देना चाहिए ।

औषधद्वेषिणे औषधयुक्तमन्नं देयम्

औषधद्वेषिणे देयस्तथौषधसमायुतः ।
मन्दाग्नये रोगिणे च मात्राहीनः प्रशस्यते ।।

जो रोगी औषधि लेने में द्वेष करता हो, उसे आहार में औषधि मिला के देवें । मन्द अग्नि वाले रोगी को मात्राहीन अर्थात् अल्पप्रमाण में औषधि देनी चाहिए ।

दोषप्रशमनाहारः

यथर्तुदत्तश्चाहारो दोषप्रशमनः स्मृतः ।
अतः परन्तु स्वस्थानां वृत्त्यर्थं सर्वमेव च ।
प्रविचारानिमानेवं द्वाशात्र प्रयोजयेत् ।।

ऋतुओं के अनुसार दिया हुआ आहार दोषों को शान्त करता है । इसके पश्चात् स्वस्थ पुरुषों को उनके स्वास्थ्य संरक्षणार्थ सर्वप्रकार का भोजन दिया जाता है, वह वृत्त्यर्थ (जीवननिर्वाहार्थ) भोजन कहलाता है । इस प्रकार उपर्युक्त बारह प्रकार के भोजन के नियमों का विचार करके व्यक्ति को अवस्थानुसार भोजन देने की व्यवस्था करनी चाहिए ।

आहारस्थानम्

आहारन्तु रहः कुर्यान्निर्हारमपि सर्वदा ।
उभाभ्यां लक्ष्म्युपेतः स्यात् प्रकाशो हीयते श्रियः ।।

भोजन सदा एकान्त में बैठ के करना चाहिए तथा शौच (मल एवं मूत्र त्याग) भी एकान्त (निर्जन) स्थान में करें । ऐसा करने से शोभा बढ़ती है तथा प्रकाश में (सबके सन्मुख) आहार और निर्हार (मलत्याग) करने से मनुष्य की श्री (शोभा) घटती है ।

भोजनस्थानम्

भोक्तारं विजने रम्ये निःसंबाधे शुभे शुचौ ।
सुगन्धिपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ।।

(सुश्रुत)

भोजनकर्त्ता को जहाँ ज्यादा मनुष्य न हों, ऐसे सुन्दर, बाधारहित, शुभ, पवित्र तथा सुगन्धी पुष्पों से युक्त समतल वाले स्थान में बिठा के भोजन करावें। वास्तव में भोजन करने का स्थान एकान्त में होना चाहिए तथा वह देखने में सुन्दर और पवित्र होना चाहिए। उस स्थान में देवी-देवताओं के उत्तम चित्र लगे हों तथा अगरबत्ती या धूप से सुगन्धित होना चाहिए। कर्पूरयुक्त पानी का वहां छिड़काव किया हो, उसमें इधर-उधर कांच के पात्रों में छोटे-छोटे पौधे तथा पुष्पों के गुच्छ रखे हुए होने चाहिए। दुश्मनों की नज़र स्वप्न में भी न पड़ सके ऐसा स्थान हो, "स्वप्नेऽपि वैरीगोचरतामयातम्" एवं वहां रसोई या परिचारक-परिचारिकाएँ भी उपस्थित रहें।

भोजनकरणनिषेधावस्था

"नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाऽहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो न दत्त्वा गुरुभ्यो नाऽतिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टशुचिक्षुधितपरिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाग्रमग्रये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकै र्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सनयन् नाकुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत। न पर्युषितमन्यत्र मांस-हरितशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः। नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवण-सलिलसक्तुसर्पिभ्यः। (च. सू. अ. ८)

शरीर के गले, हस्त, मणिबन्ध तथा अङ्गलियों में से किसी एक अंगुली में बिना रत्न धारण किए भोजन न करें। अर्थात् भोजन करते समय किसी हस्ताङ्गुली में किन्हीं भी नवरत्नों में से स्वग्रहबलानुसार जो रत्न उत्तम हो उससे जड़ी हुई अंगूठी को धारण कर भोजन करें।

बिना स्नान, संध्या, स्वेष्ट देवपूजन किए भोजन न करें। फटे वस्त्र पहन के तथा बिना इष्टदेवतामन्त्रजपहवन किए भोजन न करें। देवता तथा पितर, गाय, कौए, कुत्ते, गुरु, अतिथि, माता-पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि बड़ों को तथा अपने आश्रित छोटों को बिना अर्पित किए भोजन न करें। शरीर में या मस्तिष्क पर तैल लगाए बिना तथा कानों और कपड़ों पर ऋतु के अनुसार इत्र लगाए बिना तथा मस्तिष्क में चन्दन का लेप करके, गले में सुगन्धी पुष्पों की माला धारण किए बिना भोजन नहीं करना चाहिए। हस्त पाद तथा मुख धोए बिना भोजन न करें।

अशुद्ध मुख (बिना दतुअन कुल्ले किए) तथा उत्तर दिशा में मुख करके भी भोजन न करें। दुःखी मन से भोजन न करें। जिसके परिचर (भृत्ये) भोजन न किये हों, शिष्ट (सदाचारी) न हों, पवित्र न हों और भूख से पीड़ित हों तो भी भोजन न

करें। अपवित्र पात्री (दासियाँ) हों तो भी भोजन न करें। निषिद्धस्थान में, असमय में, संकीर्ण स्थान में, अग्नि में बिना अन्न की आहुति दिये हुए, प्रोक्षणोदक से बिना प्रोक्षित किए, मन्त्रों द्वारा बिना अभिमन्त्रित किए भोजन न करें। भोजन की निन्दा करते हुए तथा अन्य द्वारा निन्दित किये हुए एवं विपरीत स्थान या स्थिति में रखे हुए भोजन को न करें। बासी भोजन भी न करें किन्तु दही, शहद, लवण, जल, सत्तू और घृत ये बासी नहीं माने जाते हैं।

एकान्त–आहारनिर्हारप्रशंसा

आहारन्तु रहः कुर्यान्निर्हारमपि सर्वदा।
उभाभ्यां लक्ष्म्युपेतः स्यात्.............. ।।

आहार (भोजनग्रहण) तथा निर्हार (मलमूत्रत्याग) सदा एकान्त स्थान में ही करना चाहिए। इन दोनों नियमों का पालन करने से लक्ष्मी (शोभा) की वृद्धि होती है।

प्रायः वर्तमान में अनेक मनुष्य शौच त्याग करने के पूर्व जल पीकर, चाय पीकर तथा तम्बाकू खाके अथवा बीड़ी, सीग्रेट पीकर (कुछ पीते हुए) मलोत्सर्जन करते हैं तथा कुछ व्यसनी गांजा अथवा भांग पीकर मलत्यागने जाते हैं किन्तु यह प्राकृतिक (स्वाभाविक) नहीं है।

वास्तव में मुख नेत्र प्रक्षालन तथा जिह्वा का घर्षण तथा दन्तधावन करके रात्रि में ताम्र या मिट्टी के पात्र में रखा हुआ जल पीकर शौचत्याग करें। जल पीके शौच जाने से आंतों में चिपका हुआ मल या सञ्चित मल आसानी से निकल जाता है। कुछ लोग मलत्यागते समय कब्जियात (विबन्ध) से पीड़ित होने से कांख-कांख कर शौचत्याग करते हैं। कांखने से गुदमार्ग में स्थित (फैली हुई) रक्तनलिकाओं के अन्त में रक्त स्थिर होकर अर्श (बवासीर) का रूप ले लेता है अतः कांख कर मलत्यागना हानिकारक है। कांखने से अर्श के अतिरिक्त गुदभ्रंश (गुदा का बाहर निकलना) भी हो जाता है अतः रात्रि में सोते समय चाय अथवा दुग्ध या गरम पानी में १ से २ तोला एरण्ड तैल (केस्टोर ऑयल) डाल के पी के शयन करने से दूसरे दिन प्रातः मल आसानी से निकल जाता है।

आहारमात्राविवेचनम्

"मात्राशी स्यात्, आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी, यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां च गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति"। (च. सू. अ. ५)

मनुष्य सदा मात्रापूर्वक भोजन करे, चाहे भोज्यपदार्थ गुरु हो अथवा भोज्यपदार्थ लघु हो उनकी मात्रा अवश्य निश्चित होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की अपने

अपने पाचकाग्नि बल के अनुसार आहारमात्रा निश्चित होती है। मात्रा का कोई एक निश्चित नाप-तोल नहीं है, अपितु जितना भोजन किया हो वह उस की प्रकृति या शरीर को किसी प्रकार की असुविधा या नुकसान न पहुंचावे तथा योग्य समय में भोजन पच जाय एवं शरीर की स्फूर्ति, बल और उत्साह बढ़ता रहे तथा मनुष्य आलस्य में पड़ा न रहे, अपने दैनिक शारीरिक एवं बौद्धिक कार्यों को करता रहे। यही भोजन की उचित मात्रा है चाहे पदार्थ गुरु हो या लघु हो उसकी मात्रा उक्त विषयों या विचारों पर निर्भर है।

लघुगुरुद्रव्यमात्रा

''तत्र शालिषष्टिकमुद्गलावकपिञ्जलेणशशशरभशम्बरादीन्याहार-द्रव्याणि प्रकृतिलघुन्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति, तथा पिष्टेक्षुक्षीरविकृति-माषानुपौदकपिशितादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिगुरुण्यपि मात्रामेवापेक्षन्ते''।

(च. सू. अ. ५)

शालि, साठी चावल, मूंग की दाल तथा लावापक्षी, तीतर, मृग, खरगोश, शाबर, मृग, बारहसींग मृग का मांस ये सब स्वभाव से पचने में लघु (हल्के) आहार द्रव्य होने पर भी मात्रापूर्वक ग्रहण किये जाते हैं तथा पिष्ट (गेहू आदि का आटा), इक्षु (सांठे) और दुग्ध इनसे बने हुए पदार्थ और उड़द, आनूप तथा जल में होनेवाले जीवों का मांस, ये आहार द्रव्य स्वभाव से गुरु (भारी) होने पर भी मात्रा की ही अपेक्षा रखते हैं।

मात्रानुरूपभोजनगुणाः

मात्राशी सर्वकालस्यान् मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरुण्यपि लघूनि च।।

सर्वदा मात्रा का विचार करके भोजन करें, क्योंकि मात्रापूर्वक किया हुआ भोजन पाचकाग्नि को प्रदीप्त करता है, चाहे द्रव्य गुरु हों अथवा लघु हों, सदा मात्रा की अपेक्षा रखते हैं।

गुरुलघुद्रव्यमात्रा

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति।। (वाग्भट)

गुरु (भारी) अन्नद्रव्यों को आधा पेट भर के सेवन करें तथा लघु पदार्थों को अत्यन्त तृप्त होके (पूरा पेट भर के) न खावें किन्तु गुरु अथवा लघु पदार्थ सुख-पूर्वक समय पर पच जावें वही उनकी योग्य आहारमात्रा का प्रमाण कहा है।

महाभारते मात्राविचार:

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितञ्च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ।।

अपने उदर की समाई (अवकाश) के अनुसार जितना शक्य हो उतना ग्रास ग्रहण कर लेना (खा लेना) चाहिए किन्तु जो खाया हुआ बिना विकार के पाचित हो जाय तथा वह ग्रहीत भोजन परिणाम (प्रभाव) में ही हितकारी हो उतनी मात्रा में ही अपनी भूति (कल्याण) को चाहने वाला पुरुष भोजन करें।

गुरुभक्ष्यवर्जितपुरुष:

मन्दानलो नरो द्रव्यं मात्रागुरुविवर्जयेत् ।
स्वभावतश्च गुरु यत्तथा संस्कारतो गुरुः ।।
मात्रा गुरुस्तु मुद्गादि माषादि प्रकृते र्गुरुः ।
संस्कारगुरुः पिष्टान्नं प्रोक्तमित्युपलक्षणम् ।।

मन्दाग्नि वाला पुरुष मात्रा (प्रमाण) से गुरु, स्वभाव से गुरु तथा संस्कार से गुरु भक्ष्य भोज्य पदार्थों का सेवन न करें। उदाहरणार्थ मूंग आदि पचने में हल्के होने पर भी अधिक प्रमाण में लेने से गुरु पाकी हो जाते हैं। इसी तरह उड़द आदि प्रकृति से ही गुरुपाकी होते हैं तथा गेहूं आदि धान्यों के पिष्ट (आटे) अग्नि पर घृत तैल आदि द्वारा संस्कृत कर देने अर्थात् पका लेने पर गुरुपाकी हो जाते हैं।

केवलमात्रायुक्तभोजनश्रेष्ठतानिषेध:

''नच केवलं मात्रावत्त्वादेवाहारस्य कृत्स्नमाहारफलसौष्ठवमवाप्तुं शक्यं, प्रकृत्यादीनामष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्तफलखात्''

केवल मात्रा पूर्वक भोजन करने से ही आहार का समग्र फल प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रकृति, करण आदि अष्ट आहारविधिविशेषायतनों के पृथक्-पृथक् प्रयोजन हैं।

मात्रापूर्वककृताहारलक्षणम्

''तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुपदिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद्भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः, तद्यथा–कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनम्, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनप्रश्वासोच्छ्वासहास्यसंकथासु च सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वञ्चेति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति''

उदर के तीन विभाग करके आहार की मात्रा का वर्णन पूर्व में किया है, उसी का पुनः विस्तार से वर्णन किया जाता है—जैसे किए गये आहार से उदर का पीड़ित न होना, हृदय के रक्त संचलन कार्य में बाधा न होना, दोनों पसवाड़ों (पार्श्वों) में फटने जैसी वेदना का न होना, उदर में अधिक भारीपन न होना, इन्द्रियों की तृप्ति होना, भूख तथा पिपासा की शान्ति होना, एवं खड़े होने, बैठने, सोने, चलने, प्रश्वास और उच्छ्वास करने, हंसने तथा बोलने में पीड़ा न होना, सायं तथा प्रातः किये हुए भोजन का सुखपूर्वक पच जाना तथा शरीर के बल, वर्ण और उपचय (वृद्धि) का होना, ये मात्रापूर्बक किये हुए आहार के लक्षण हैं।

अमात्रावत्त्वाहारलक्षणम्

''अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते, हीनमधिकञ्चेति, तत्र हीनमात्र-माहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमवृष्यमनायुष्य-मनोजस्यं, शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं, सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च-वातविकाराणामायतनं प्रचक्षते''

अमात्रावत्त्व आहार के हीनमात्रा और अधिकमात्रा ऐसे दो भेद शास्त्र में किये हैं। इनमें हीन (कम) मात्रा में किया हुआ भोजन शरीर के बल, वर्ण (कान्ति) और उपचय (वृद्धि) का क्षय करता है तथा अतृप्ति (असंतोष), तथा उदावर्त (वायु, मल, मूत्रादि का ऊर्ध्व वेग) का जनक तथा अवृष्य (पुंस्त्व-शक्तिनाशक), आयु के लिए अहितकारी, ओज (उत्कृष्ट तेज) का नाशक माना गया है एवं शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की शक्ति का नाशक है। इसके अतिरिक्त शरीर के क्षार भाग का नाशक, शरीर की शोभा का नाशक एवं अस्सी प्रकार के वातरोगों का जनक माना गया है।

अतिमात्रावत्त्वभोजनदोषः

''अतिमात्रावत्त्वं पुनः सर्वदोषप्रकोपमिच्छन्ति कुशलाः'' (चरक)

अतिमात्रा में किया हुआ भोजन शरीर में सर्वप्रकार के दोषों का प्रकोपक है ऐसा आयुर्वेद के कुशल विद्वानों का मत है।

यथोक्तं माधवनिदाने

अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥

जो मूढ अपनी आत्मा या शरीर के हित का बिना विचार किए पशुओं के समान बिना प्रमाण पूर्वक भोजन करते रहते हैं, वे सर्वरोगों के जनक अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाते हैं।

भोजनपूर्व दाडिमफलसेवनम्

आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान् ।
ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रां स्ततः परम् ।।

भोजन करने के पहले दाडिम (अनार) आदि फलों का सेवन करना चाहिए उनके पश्चात् पेय पदार्थ (खीर) सेवन करें तथा पेय के अनन्तर अनेक प्रकार के चित्र और विचित्र भोज्य और भक्ष्य पदार्थों का सेवन करें ।

आमलकसेवनफलम्

आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते ।
निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ।। (सु. सू. अ. ४६)

सर्वप्रकार के फलों में आंवला मनुष्यों के लिए बाधा न करने वाला तथा सर्वदोष नाशक होने से उसे भोजन के पूर्व, अन्त और मध्य में सेवन करना उत्तम है ।

मृणालादिसेवननियमाः

मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च ।
पूर्वं योज्यानि भिषजा नतु भुक्ते कदाचना ।। (सु. सू. अ. ४६)

मृणाल (कमलदण्डी), बिस (कमलतन्तु), शालूक, कन्द और इक्षु इनका प्रयोग सदा भोजन के पूर्व (प्रथम) में सेवन करने का वैद्य उपदेश करे, भोजन के पश्चात् इनका सेवन उचित नहीं है ।

सात्विकप्रियाहारः

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ।।

आयु, मनोबल, आरोग्य तथा सुख तथा प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसदार, स्निग्ध, स्थिरताजनक एवं हृदय हितकारी आहार द्रव्य सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं ।

राजसप्रियाहारः

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।

कटु (चरपरे) अम्ल और लवण रस वाले तथा अधिक उष्ण, तीक्ष्ण रूक्ष एवं विदाह करने वाले भोज्य द्रव्य राजसी पुरुषों को प्रिय होते हैं तथा ऐसे आहार द्रव्यों से विविध प्रकार के दुःख शोक तथा रोगों की उत्पत्ति होती है ।

तामसप्रियभोजनम्

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। (गीता)

भोजन तैयार हो के एक प्रहर बीता हुआ, विनष्ट रस वाला, दुर्गन्धित, बासी (रात का बना हुआ), किसी के द्वारा उच्छिष्टरूप में छोड़ा हुआ तथा अपवित्र आहार तामसी प्रकृति के पुरुषों को प्रिय होता है।

सात्विकादिपुरुषाहारप्रमाणम्

मिताः स्युः सात्विकाहाराः राजसाः पूर्णभोजनाः ।
तामसास्त्वधिकाहारा विज्ञेयाः सात्विकादयः ।।

सात्विक प्रकृति वालों का आहार अल्प (अर्थात् नपा तुला), राजसप्रकृति वालों का आहार पूर्ण तथा तामस प्रकृति वाले पुरुषों का आहार प्रमाण में अधिक होता है।

भोजनपूर्वं लवणार्द्रकसेवनम्

भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम् ।
अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम् ।।

भोजन प्रारंभ करने के पहले स्वल्प लवणयुक्त अद्रक का सेवन करने से पाचकाग्नि प्रदीप्त होती है, भोजन में रुचि उत्पन्न होती है तथा जिह्वा और कंठ की शुद्धि होती है।

षड्रसानुसारभोजनग्रहणम्

पूर्वं मधुरमश्नीयान् मध्येऽम्ललवणौ रसौ ।
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत् ।।

भोजन करते समय सर्वप्रथम मधुर रस वाले अन्न को ग्रहण करें, बीच में (आधा भोजन कर लेने पर) अम्ल और लवण रस वाले अन्न का सेवन करें तथा उसके पश्चात् शेष कटु, तिक्त, कषाय रस वाले भोज्य पदार्थों का सेवन करें। भोजन के अन्त में भी मधुर रस वाले भोज्य पदार्थ खाना उत्तम है।

कठिनादिभोज्यपदार्थसेवनक्रमः

घृतपूर्वं समश्नीयात् कठिनं प्राक् ततो द्रवः ।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलाद्रोगेण मुच्यते ।।

आचार्य भावभिश्र का मत है कि रोटी आदि कठिन द्रव्यों को प्रथम घृत के

साथ सेवन करें, पश्चात् भात (चावल) आदि मुलायम भोज्य द्रव्य सेवन करें तथा भोजन के अन्त में द्रव पदार्थों (खीर, दुग्धपाक) का भोजन करने वाला पुरुष बलपूर्वक रोग से मुक्त हो जाता है।

क्षीरान्तभोजनम्

कुर्यात् क्षीरान्तमाहारं न दध्यन्तं कदाचन।

सदा भोजन के अन्त में मधुर दुग्ध का पान करना चाहिए। कभी भी भोजन के अन्त में दही नहीं खावें।

अन्ते मधुरपदार्थसेवनम्

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीन्यत्ति यानि तु।
तद्दोषहर्तुमाहारं मधुरेण समापयेत्॥ (भावमिश्र)

जो मनुष्य लवण (नमकीन), खट्टे, चरपरे, उष्ण प्रकृति वाले तथा पेट में दाह पैदा करने वाले पदार्थों का सेवन करता हो तो उनसे उत्पन्न होने वाले दोषों के निर्हरणार्थ अन्त में मधुर पदार्थ खाकर भोजन की समार्प्ति करनी चाहिए।

उत्तरोत्तरस्वादुभोजनम्

"यद्यत्स्वादुतरं तत्तद्विदध्यादुत्तरोत्तरम्" (सु. सू. अ. ४६)

उक्त मधुर पदार्थों में भी जो-जो पदार्थ अधिकाधिक स्वादु हों उन्हें क्रमशः उत्तरोत्तर अन्त में सेवन करें।

भुक्तवतो गुरुभोजननिषेधः

गुरु पिष्टमयं द्रव्यं तण्डुलान् पृथुकानपि।
जातु भुक्तवान् खादेन् मात्रां खादेद्बुभुक्षितः॥ (चरक)

श्रीचरकाचार्य का मत है कि भोजन किया हुआ पुरुष पचने में भारी गेहूँ, चने आदि के आटे के बने हुए पदार्थ (पूड़ी, मालपुए आदि) तथा चिवड़े इन्हें कभी-भी सेवन न करें। अगर भूख लगी हुई हो तो इन्हें अल्पमात्रा में खावें।

दृष्टिदोषनाशनार्थं ब्रह्मादिस्मरणम्

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णु र्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति सञ्चित्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥

अन्न को ब्रह्मा, विष्णु को रस, एवं भोजन करने वाला महादेव है ऐसा विचार या ध्यान करके भोजन करने वाले को दृष्टि दोष बाधा नहीं पहुंचाता है।

980671

अन्यच्च

अञ्जनीगर्भसंभूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम् ।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं नमाम्यहम् ।।

अञ्जनी माता के गर्भ से उत्पन्न एवं ब्रह्मचारी कुमार (कुंआरे) हनुमानजी को मैं नमस्कार करता हूँ। इस श्लोक का भी भोजन पूर्व उच्चारण करना आवश्यक है, फिर श्री अन्नपूर्णा जो समस्त जगत् पालन, भरण पोषण करती है उसका ध्यान करें, पश्चात् शान्ति से भोजन करना प्रारम्भ करें। भोजन करते समय मौन रहना अत्यन्त आवश्यक है। **''तन्मनाभुञ्जीत''** बातचीत करते हुए भोजन करने से एवं बोलने से अन्नमार्ग के साथ-साथ श्वास मार्ग भी खुल जाता है जिससे कभी-कभी भोजन, शाक या अन्य खाद्य पेय के सूक्ष्म अंश (कण) श्वासमार्ग में चले जाते हैं जिससे भोजन में कष्ट एवं कसन (खांसी) होने लगती है अतएव सदा मौन रहकर भोजन करें। अनेक व्यक्ति समाचार पत्र अथवा अन्य उपन्यासादि बांचते हुए भोजन करते हैं यह भी उत्तम नहीं हैं। ऐसा करने से या अन्यमनस्क हो के भोजन करने से, भोजन कैसा है, उसे कितना चबा रहे हैं। किसी समय किस रस वाला ग्रास लेना चाहिए तथा भोजन में कोई जीव जन्तु पड़ा हुआ हो या उस समय ही पड़ जाय तो भोक्ता को इसका ध्यान न रहने से महान् अनर्थ होने की संभावना रहती है अतएव सदा तन्मन से एवं स्वस्थचित्त से तथा थाली की ओर ही देखते हुए भोजन करें। भोजन प्रारंभ करने के पूर्व तीन बार जल से आचमन कर मुख और अन्नमार्ग को शुद्ध कर लेना चाहिए। अगर मुख में पान, सुपारी, तम्बाकू या अन्य कोई भी वस्तु हो तो उसे थूककर मुख साफ करके कुल्ला कर भोजन करें। अनेक स्त्री-पुरुष भोजन के प्रारंभ में कोई भी नमकीन वस्तु खा लेते हैं, यह ठीक नहीं है। अच्छा तो यह है कि भोजन पूर्व, नमक के साथ अद्रक के छोटे-छोटे टुकड़े सर्वप्रथम खावें पश्चात् मधुर रस वाले भक्ष्य भोज्य ग्रहण करना चाहिए।

तक्रदुग्धजलपानसमयः

भोजनान्ते पिबेत्तक्रं वासरान्ते पिबेत् पयः ।
निशान्ते च पिबेद्वारि त्रिभि रोगो न जायते ।।

भोजन करने के पश्चात् तक्र (छाछ) पीना चाहिए। दिन के अन्त होने के बाद अर्थात् संध्या का भोजन करके रात्रि में सोने के पहले दुग्धपान करें। प्रातःकाल उठकर जिह्वादन्त विशोधन कर रात्रि में ताम्रपात्र में रखा हुआ जल पीना चाहिए। इस तरह छाछ, दुग्ध और जल का शास्त्रोक्त समय पर उपयोग करते रहने से कभी-भी रोग नहीं होता है।

Banaras Hindu University, Library
Acc No. 980671

तक्रगुणाः

न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन् न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः ।
यथा सुराणाममृतं हिताय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ।।

जो व्यक्ति भोजन के अन्त में तक्र (छाछ) का सेवन करता है, वह कभी-भी पीड़ा या रोग से दुःखी नहीं होता है। स्वर्गलोक में जिस तरह देवताओं के लिए अमृत हितकारी है, उसी तरह मर्त्यलोक में मनुष्यों के लिए तक्र हितकारी है।

तक्रविधि—''तक्रं पादजलं प्रोक्तम्'' दही के अन्दर चोथाई जल डालकर मथनी से मथ लेने पर तक्र बन जाती है। शीतकाल के समय तक्र की शीतता को मिटाने के लिए इसमें थोड़ा सा लवण भास्कर चूर्ण अथवा जीरा, नमक और मिर्च उचित मात्रा में मिला देना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में थोड़ी-सी शर्करा डालके भी भोजन के अन्त में सेवन कर सकते हैं।

पूर्वभोजनजीर्णे भोजनं हितकरम्

''जीर्णेऽश्नीयात्, अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणहारसेनोपसृजन् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु, जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे जातायाञ्च बुभुक्षायां, विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषूद्गारे विशुद्धे च हृदये, वातानुलोम्ये विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदुषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलं, तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात्''

प्रथम किये हुए भोजन के जीर्ण हो जाने पर ही दूसरी बार भोजन करना चाहिए। अजीर्णावस्था में भोजन करने से खाया हुआ आहार समुदाय पूर्व में किये गये आहार का अपरिपक्व रस उत्तर (आगे या बाद) में खाये हुए आहार के रस के साथ मिलकर शीघ्र ही सर्वदोषों को कुपित कर देता है परन्तु पूर्व में किए गये भोजन के जीर्ण हो जाने पर सभी दोष अपने-अपने स्थानों (आश्रयों) में स्थित रहने से तथा पाचकाग्नि के उदीर्ण (उद्दीप्त) हो जाने पर तथा क्षुधा के भी उत्पन्न हो जाने से एवं रसरक्तादि वाहक स्रोतसों के मुखों के खुले हुए होने से एवं डकार आ जाने पर तथा हृदय के विशुद्ध रहने से एवं वायु के अनुलोम हो जाने पर तथा वात, मूत्र और मल के वेगों के विसृष्ट हो जाने पर सेवन किया हुआ विविध प्रकार के भक्ष्य भोज्य शरीर की सर्वधातुओं (रसरक्तादि सप्त तथा त्रिदोषों) को दूषित नहीं करता हुआ केवल आयुष्य की ही वृद्धि करता है, इसलिए पूर्व में किये हुए भोजन के जीर्ण हो (पच) जाने पर ही भोजन करना चाहिए।

जीर्णाहारलक्षणम्

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्॥

डकार की शुद्धि (अच्छी डकार का आना), शरीर, आत्मा और मन में उत्साह, मल, मूत्र और अपानवायु के वेगों का यथोचित समय में उत्सर्ग होना, शरीर में हल्कापन, भूख का लगना, तथा प्यास का लगना ये जीर्णाहार के लक्षण हैं।

भोजनकालः

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ।
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति॥
तथान्नश्रद्धायां क्षुदुपगमने कुक्षौ च शिथिले।
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः॥

(सु. उ. अ. ६४)

मल और मूत्र के उत्सर्ग हो जाने पर, इन्द्रियों के निर्मल हो जाने पर, शरीर के हल्का प्रतीत होने पर तथा उद्गार (डकार) शुद्ध आ जाय, एवं हृदय के विशुद्ध या निर्मल अनुभूत होने पर, अपान का निर्गमन हो गया हो तथा अन्न की अभिलाषा प्रतीत होने पर, और भूख लग रही हो, पेट शिथिल हो गया हो, तथा आहार देना चाहिए। यही वैद्यों के द्वारा माना हुआ भोजन का उचित समय है। इन लक्षणों के उत्पन्न होने पर किसी भी समय में भोजन देने से मानव के स्वास्थ्य में हानि नहीं होती है।

अन्यच्च

क्षुत्संभवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च।
काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः॥

(योगरत्नाकर)

आहार रस, वातादिदोष, तथा मलों के परिपक्व हो जाने पर, समय तथा असमय में जब भी क्षुधा प्रतीत होती हो वही भोजन ग्रहण करने का उत्तम समय कहा गया है।

अग्निहोत्रसमं भोजनम्

सायम्प्रात्तर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥

प्राय: सायङ्काल और प्रात:काल ये दो ही समय मनुष्यों के भोजन करने के लिए श्रुति (वेदादि शास्त्र) संमत कहे गये हैं। इन दोनों समयों के अतिरिक्त समय में भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि भोजन करना भी अग्निहोत्र (हवन) के समान विधान है। यहां पर सायंकाल का तात्पर्य रात्रि का प्रथम प्रहर और प्रात:काल से ९ से ११ या १२ बजे तक भोजन कर लेना प्रशस्त माना गया है। जैसाकि लिखा है—

भोजनग्रहणसमय:

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत्।
याममध्ये रसोद्वेगो युग्मेऽतीते बलक्षय:॥

याममध्य से प्रात: काल ९ बजे से पूर्व भोजन करना ठीक नहीं है, क्योंकि इस समय में पूर्वरात्रि में किये हुए भोजन के पचन के शेष रह जाने से उसमें नया भोज्य पदार्थ रस मिलने से रसोद्वेग या रस विकृति होती है। दो याम (६ घण्टे १२ बजे) तक भोजन न करने से पाचकाग्नि पचाने के लिए किसी प्रकार का भोज्य भक्ष्य न मिलने से दोषों (वातादि) को एवं रक्तमांसादि धातुओं को पचाकर उनका विनाश कर देती है अत: ९ से १२ बजे के भीतर ही भोजन कर लेना प्रशस्त है। इसीलिए शास्त्रकारों ने भोजन ग्रहण करने की प्रक्रिया को अग्निहोत्र के समान माना है। अर्थात् जैसे अग्नि में प्रात: एवं सायङ्काल दोनों समय ही घृत, यव, तिल एवं गूगल आदि हवनीय पदार्थों (शाकल्य) की आहुति दी जाती है तदनुसार इस कायाग्नि में भी आहार (भोजन) की आहुति प्रात: तथा सायं दो समय ही देना प्रशस्त माना गया है। जो लोग सारे दिनरात बार-बार कुछ भी खाते रहते हैं उनकी पाचक अग्नि मन्द हो जाती है तथा वे अजीर्ण आदि अनेक रोगों के भाजन (पात्र) बन जाते हैं। जैसाकि निम्न श्लोक में स्पष्ट लिखा है।

अजीर्णकारणम्

अनात्मवन्त: पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणत:।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥

आत्मा का हित न चाहने वाले जो व्यक्ति पशु की तरह बिना प्रमाण से खाते रहते हैं वे रोगसमूह के कारणीभूत अजीर्ण को प्राप्त करते हैं।

गुरुलाघवचिन्तानिषेध:

दीप्ताग्नय: खराहारा: कर्मनित्या महोदरा:।
ये नरा: प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम्॥

जिन मनुष्यों की पाचकाग्नि दीप्त (तेज) हो, जो पुरुष सदा खर (रूक्ष) आहार करते हों, जो रात-दिन पारिश्रमिक कार्य करते हों तथा जिनका उदर बड़ा अवकाश

वाला हो उनके लिए भक्ष्य, भोज्य अन्न के गुरु लाघव का विचार करना आवश्यक नहीं है।

योग्यमात्राकृतं भोजनं हितकरम्

''नच नापेक्षते द्रव्यम्, द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्धभागसौहित्यं वा गुरुणामुपदिश्यते। लघूनामपि च नातिसौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम्, मात्रा-वद्ध्यशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपभोक्तारमवश्यमिति''

भोजन की मात्रा में द्रव्य (भक्ष्य पदार्थ) का कोई विचार नहीं किया जाता है ऐसा निर्णय नहीं है। अपितु गुरु द्रव्य (भोज्य) पदार्थ की दृष्टि से ही उदर के तीन भागों में भोजन की पूर्ति करना अथवा उदर के अर्धभाग की भोजन से पूर्ति करना शास्त्र में माना गया है। उसी प्रकार लघु (हल्के) भोज्य पदार्थों का भी अत्यधिक सेवन करना पाचकाग्नि के अनुकूल नहीं माना गया है। वास्तव में योग्य मात्रा का विचार करके किया हुआ भोजन भोजनकर्ता की प्रकृत्ति (भोजनकरण स्वभाव) को बिना हानि पहुंचाए उपभोक्ता (भोजनकर्त्ता) को बल, वर्ण और सुखी आयुष्य से युक्त करता है।

उदरत्रिविभागाः

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः, तद्यथा– एकमवकाशांशं मूर्त्तानामाहारविकाराणाम्, एकं द्रवाणाम् एकं पुनर्वात-पित्तश्लेष्मणाम्, एतावती ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति।

आहार का प्रयोग करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह कुक्षि (उदर या पेट) के तीन अवकाश के अंशों की कल्पाना करे, जैसेकि एक अवकाश भाग मूर्त्त (ठोस) पदार्थों के लिए तथा दूसरा अवकाश भाग द्रव पदार्थों के लिए तथा एक बचा हुआ अवकाश भाग वात,पित्त और कफ इन त्रिदोषों के वहां विचरण के लिए रखना चाहिए। इस तरह की कल्पना करके आहार (भोज्य पदार्थों) की मात्रा का उपयोग करने वाला मनुष्य कभी-भी अमात्रापूर्वक बिना मात्रा, नाप-तोल के भोजन करने वाले को जो अधिक भोजन ग्रहण से उत्पन्न होने वाले रोगों के अशुभ फल (परिणाम) का भाजक या पात्र नहीं बनता है।

वाग्भटमतम्

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्॥

भोक्ता मनुष्य उदर के दो भागों को अन्न से पूरित करे तथा एक भाग (तीसरे भाग) को पेय पदार्थों के द्वारा पूर्ण करे तथा उदर के चौथे भाग को वातपित्तादि दोषों के सञ्चरणार्थ खाली रखें। वाग्भटाचार्य ने इस तरह उदर को चार भागों में विभक्त किया है।

आचमनान्ते नेत्रस्पर्श:

आचम्य जलयुक्ताभ्यां पाणिभ्यां चक्षुषी स्पृशेत्।
भुक्त्वा च स्मरेन्नित्यमगस्त्यादीन् सुखावहान्।। (भा. प्र.)

भोजन के अन्त में आचमन करने के पश्चात् अपने गीले हाथों को दोनों नेत्रों पर फेरने चाहिए। ऐसा करने से भोजन की ऊष्मा मस्तिष्क तथा नेत्रों में पहुंची हुई होती है वह शान्त हो जाती है तथा मस्तिष्क और नेत्रों को अत्यन्त आनन्ददायी शीतलता और शान्ति का अनुभव होता है। भोजन के पश्चात् सुखपाचनार्थ अगस्त्य आदि का स्मरण करें।

भोजनान्ते अगस्त्यादिस्मरणम्

अगस्त्यं कुम्भकरणञ्च शनिञ्च वडवानलम्।
आहारपचनार्थाय स्मरेद् भीमञ्च पंचमम्।।

भोजन करने के पश्चात् अपना दक्षिण हस्त पेट पर फेरते हुए अगस्त्य आदि मुनियों का स्मरण करने से आहार का ठीक पाचन हो जाता है। इसी तरह पांचवें भीमसेन का भी स्मरण करना चाहिए।

जीर्णेऽन्ने वाय्वादिवृद्धि:

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव च।
भुक्तमात्रे कफश्चापि तस्माद् भुक्ते हरेत् कफम्।।

अन्न के ठीक पच जाने पर वायु की वृद्धि होती है तथा अन्न की पचनावस्था में पित्त बढ़ता है तथा भोजन करते ही कफ की वृद्धि होने लगती है, इसलिए भोजन करने के पश्चात् कफ विनाशक द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

कफनिर्हरणार्थं योगा:

धूमेनापोह्य हृद्यै र्वा कषायकटुतिक्तकैः।
पूगकक्कोलकर्पूरलवङ्गसुमनःफलैः।।
ताम्बूलपत्रसहितैः सुगन्धै र्वा विचक्षणः।।

कफ के नाशन के लिए आयुर्वेदोक्त औषधियों (हरेणुका, प्रियङ्गु, इलायची, केशर, नखी, नेत्रवाला, चन्दन) से बने हुए औषधियों के चूर्ण को चिलम में भरकर

धूम्रपान करना चाहिए। जो धूम्रपान न करना चाहे वह हृदय को प्रिय लगने वाले कषाय, जावित्री, इलायची, सौंफ, धनिये की दाल आदि का सेवन (चर्वण) करें। इनके अतिरिक्त कत्था, चूना लगे हुए एवं सोपारी, एला, लवङ्ग, आदि से युक्त ताम्बूल (पान) का सेवन करे। छात्रों के लिए ताम्बूल वर्जित है।

ऐसे कवियों ने ताम्बूल के तेरह गुण बताये हैं जो स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं- "ताम्बूलस्य सखे त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽप्यमी दुर्लभाः"।

भोजनान्ते राजवदासनम्

"भुक्त्वा राजवदासीत यावन्नान्नक्लमो गतः"

भोजन करने के पश्चात् जब तक अन्नसेवनजन्य सुस्ती या स्वल्प उष्णता या अन्नपानजन्यमद न चला जाय तब तक राजा के समान सीधे आलती-पालती लगा के बैठना चाहिए। ऐसे बैठने से भोजन अपने यथायोग्य आशयों (आमाशयादिक) में पहुंच जाता है, तथा वहां पाचन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

भोजनान्ते दन्तलग्नादिहरणम्

एवं भुक्त्वा समाचामेच्चूषग्रहणपूर्वकम्।
भोजने दन्तलग्नादि निर्हृत्याचमनं चरेत्॥

यथाविधि भोजन करने के पश्चात् मुख में जल भरकर उसे दोनों कपोलों (गालों) को इधर-उधर हिलाने की क्रिया से अनेक बार हिलाकर कुल्ले करें तथा दन्तलग्न अन्नकण आदि को सीक से निकाल कर दातों की शुद्धि कर पुनः आचमन कर लें।

अन्यच्च

दन्तान्तर्गतं चान्नं शोधनेनाहरेच्छनैः।
कुर्यादनिर्हृतं तद्धि मुखस्यानिष्टगन्धताम्॥

भोजन करते समय जो अन्न दांतों के भीतर प्रविष्ट (घुस) हो जाता है उसे सुवर्ण, रजत या ताम्रशलाका या निम्ब के तिनके से अथवा झाड़ू, घास, दिया-सलाई की काड़ी से या सुई से निकालकर कुल्ले करके मुख को शुद्ध कर लेना चाहिए। यदि इन दांतों में धसे या चिपके अन्न को न निकाला जाय तो वह सड़कर मुख में दुर्गन्ध उत्पन्न कर देता है।

दन्तलग्ननिर्हरणे विचारः

दन्तलग्नमनिहार्यं लेपं मन्येत दन्तवत्।
न तत्र बहुशः कुर्याद्यत्नं निर्हरणं प्रति॥

लेप दांतों में कई दिनों से लगे रहने से दृढ़ हो गया हो तो उसे दांतों का ही भाग मानकर जबर्दस्ती निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

भोजनान्ते ताम्बूलसेवनम्

कर्पूरजातिकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः ।
सचूर्णपूगखदिरैः पत्रं ताम्बूलजं शुभम् ।।
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम् ।
हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम् ।।
प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम् ।।

कपूर, जायफल, कंकोल, लविङ्ग और कटु (चरपरे पदार्थ जैसे कुलंजन) तथा चूना, सुपारी और कत्था इनके चूर्ण से युक्त ताम्बूलपत्र का सेवन शुभ कारक (कफनाशक) होता है। इस प्रकार ताम्बूलपत्र सेवन से मुख विशद (चिपचिपेपन से रहित) तथा सुगन्धयुक्त हो जाता है एवं मुख की कान्ति और सुन्दरता बढ़ती है तथा हनु (ठुड्डी), दन्त और स्वर (श्वासमार्ग) के मल का नाश होता है तथा जिह्वा एवं इन्द्रियों की विशुद्धि होती है। ताम्बूल सेवन से मुख और नासा से निकलने वाले स्त्रावों (लार, सेडा, कफ) का संशमन होता है एवं ताम्बूल सेवन हृदयहितकारी तथा गले के रोगों का विनाशक है।

ताम्बूले पूगादिप्रक्षेपविचारः

प्रभाते पूगमधिकं मध्यह्ने खदिरं तथा।
निशासु चूर्णमधिकं ताम्बूलं भक्षयेत् सदा ।।

ताम्बूल (पान) में प्रातःकाल में सुपारी चूर्ण अधिक, मध्याह्नकाल में कत्था अधिक तथा रात्रि के समय चूना अधिक डालकर पान सेवन करें।

चर्वितपानरसविचारः

आद्यं विषोपमं पीतं द्वितीयं भेदि दुर्जरम् ।
तृतीयादनुपात्तव्यं सुधातुल्यं रसायनम् ।।

पान के चबाने से जो प्रथम द्रव (पीक या रस) मुख में बनता हैं, वह गले में उतारने से विष के समान अनिष्टकारी होता है। अतः उसे थूक देना चाहिए। उसके बाद पान चबाने से जो रस (पीक) बनता है, उसे निगल जाने से दस्तावर होता है। अतः उसे भी थूंक दें। फिर तीसरी बार चबाने से जो रस बनता है उसे पेट में उतार देने से अमृत के समान गुणकारी और रसायन के समान गुण करता है।

ताम्बूलसेवनवर्जितजनाः

रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम् ।
रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम् ।।
विज्ञेयश्च तथा दन्तदुर्बलेक्षणरोगिणाम् ।
ताम्बूलं नातिसेवेत न विरिक्तो न बुभुक्षितः ।।

रक्तपित्त, उरःक्षत, क्षीण, तृषा और मूर्च्छा से व्याप्त एवं रूक्ष, दुर्बल और मुखशोषी (मुख सूखता हो वैसे मनुष्यों) के लिए ताम्बूल सेवन हितकारी नहीं है। इसी प्रकार विरेचन लिया हुआ एवं क्षुधा पीड़ित (भूखा व्यक्ति) अधिक ताम्बूल का सेवन नहीं करे।

अतिताम्बूलभक्षणदोषाः

देहदृक्केशदन्ताग्निश्रोत्रवर्णबलक्षयः ।
शोषः पित्तानिलास्त्रं स्यादतिताम्बूलभक्षणात् ।। (भा. प्र.)

मर्यादा से अधिक ताम्बूल सेवन करने से शरीर, दृष्टि, केश, दांत, पाचकाग्नि, कर्ण, शरीर का वर्ण और बल का क्षय होता है तथा शोष रोग एवं पित्त, वायु तथा रक्तविकार उत्पन्न होते हैं।

भोजनोत्तरं कर्म

भोजन कर ताम्बूल (पान) खाने के पश्चात् लगभग एक सौ पग तक चंक्रमण करना चाहिए, जैसाकि कहा है—"**भुक्त्वा पदशतं गच्छेत्**"। चंक्रमण के पश्चात् वापस आकर वामपार्श्व पर लेट के आराम करना चाहिए—"**वामपार्श्वेन संस्वपेत्**"। भोजन करने के पश्चात् बैठे रहने से तन्द्रा (झपकी) आने लगती है, वाम पार्श्व पर लेट जाने से शरीर पुष्ट होता है, जैसाकि कहा है—"**भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता**"।

भोजनोत्तरं मनःप्रसन्नतासाधनम्

भोजन करने के पश्चात् वामपार्श्व पर लेटे-लेटे मन को तथा कानों को प्रिय लगने वाले गीतों का श्रवण एवं नेत्र को प्रिय लगने वाले अवतारी महापुरुषों (राम, कृष्ण आदि के चित्रों) का दर्शन तथा अपने छोटे-छोटे पुत्र एवं पौत्रियों को तथा सुशीला, सुभक्ता धर्मपत्नी को देखना उत्तम है। जिह्वा तथा मन की प्रसन्नता एवं शरीर की पुष्टि के लिए सुस्वादु फलों (आम, सन्तरे, मोसम्बी, चीकू, सेबफल, पिण्ड खजूर) का सेवन करना चाहिए। घ्राणेन्द्रिय तथा मस्तिष्क की तुष्टि-पुष्टि के लिए ललाट पर सुगन्धित कर्पूर केशर युक्त मलयागिरि चन्दन का लेप लगाना चाहिए तथा गुलाब, चमेली, केवड़े, खस आदि के इत्र और तैलों को सूंघना

तथा कानों में इत्रफाया लगाना चाहिए। इसी प्रकार शयन कक्ष में बढ़िया अगरबत्ती को जलाकर बुझा के उसका सुगन्धित धुआं नाक, मस्तिष्क तथा फुफ्फुसों में प्रविष्ट होने देना चाहिए। उक्त प्रकार की मनस्तुष्टिकारक प्रक्रियाओं से किया हुआ भोजन आमाशयादि पाचनाशयों में सुस्थिर होने से उसका उत्तम पाचन होता है। भोजन करते ही एक स्थान पर बैठ जाने से भोजन के नशे के कारण अथवा आमाशय में पाचनार्थ रक्त का संचार अधिक होने से तथा मस्तिष्क में रक्त का संचार कम हो जाने से तन्द्रा (ऊँघ) आती है। इस तरह भोजन कर बैठे रहने से तन्द्रा, वाम करवट लेटने से शरीर पुष्टि, चंक्रमण करने से आयु की वृद्धि तथा भोजन करते ही परिश्रम करने या दौड़ने से मृत्यु तक हो सकती है, जैसा कि लिखा है—

भोजनोत्तरं हिताऽहितम्

भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः॥

भोजनकालदृष्टिफलम्

आहार करना तथा निर्हार (मलत्याग) करना एकान्त में प्रशस्त माना गया है— "**आहारन्तु रहः कुर्यान्निर्हारमपि सर्वदा**"; फिर भी जिन व्यक्तियों की आत्मा, इन्द्रियाँ और मन भोजन से तृप्त हों, उनकी दृष्टि पड़ने से कोई विशेष हानि नहीं होती है, इनके अतिरिक्त शुक, सारिका और मैना इन की दृष्टि उत्तम है।

वास्तव में अपने पिता, माता, बहन, पत्नी, पुत्र-पुत्रियों और पौत्रियों की दृष्टि उत्तम होती है क्योंकि ये स्वयं भोक्ता को उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ खिलाने का आग्रह करते हैं तथा आनन्द से खाते हुए भोक्ता को देख के इन का मन प्रसन्न होता है, किन्तु अन्य व्यक्ति जब भोक्ता को भोजन करते हुए देखते हैं तब उत्तम भोजन से उनकी भी आत्मा, मन और इन्द्रियाँ उस भोजन के ग्रहणार्थ मनोमन लोलुप (लुब्ध) हो जाती हैं और उन्हें जब ऐसा भोजन नहीं मिलता है तब उनकी तृष्णा उस भोजन पर स्थिर हो जाती है, अतः वैसा दृष्टिदोष युक्त भोजन भोक्ता के लिए कोई विशेष फलप्रद नहीं होता है। कुत्ता, बिलारी, काक आदि की दृष्टि जब भोजन पर पड़ती है तब वे उसे स्वदृष्टि दोष से दूषित कर देते हैं, अतएव सदा दृष्टिदोष से बचने के लिए शास्त्रकारों ने एकान्त में भोजन करने का जो नियम बनाया है वह कितना उत्तम है अतएव एकान्त में बैठकर चुपचाप भोजन करना श्रेष्ठ है।

अशनसमये मांगल्यदर्शनम्

सदैवाशनवेलायां कुर्यान्माङ्गल्यदर्शनम्।
चित्तप्रमोदनं नित्यमायुर्धर्मविवर्धनम्॥

भोजन करते समय हमेशा ही मांगल्य (कल्याणकारी) वस्तुओं का दर्शन चाहिए। मांगल्य वस्तुओं को देखने से चित्त सदा प्रमुदित रहता है तथा आयु और धर्म की वृद्धि होती है।

अष्टमंगलानि

लोकेऽस्मिन् मंगलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः।
पुष्पस्त्रक्सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः।।

इस संसार में ब्राह्मण, गाय, पुष्पमाला, घृत, सूर्य, जल तथा राजा—ये आठ मांगलिक पदार्थ हैं।

भोजने घृतपेयादिप्रदानपात्राणि

घृतं कार्ष्णायसे देयं पेया देया तु राजते।
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वैदलेषु च।।
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत्।
प्रद्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत्।।
कट्टराणि खडांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत्।
दद्यात् ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुश्रृतं पयः।।
पानीयं पानकं मद्यं मृण्मयेषु प्रदापयेत्।
काचस्फटिकपात्रेषु रागषाडवसट्टकान्।।

काले लोहे के पात्र (कटोरी) में घी, चांदी के पात्र (प्याले या गिलास) में पेया परोसें। पलास, महुए आदि से बनाये हुए पत्तल और दोनों में फल तथा अन्य भक्ष्य पदार्थ देवें। सूखे हुए मेवे या अन्य पदार्थ एवं चिपकने वाले भक्ष्य, भोज्य सुवर्ण के पात्रों में रखें। प्रकृष्ट द्रव पदार्थ (खीर) तथा अन्य रस चांदी के पात्रों में परोसने चाहिए। कट्टर और खड (आम, नीबू आदि के आचार एवं सिरके) पदार्थों को पत्थर के बने हुए पात्रों में रखें। अच्छी प्रकार शृत (गरम) करके शीतल किया हुआ जल ताम्रपात्र में भरकर भोक्ता के समीप रखें। इसी तरह पानीय (पेय), पानक (इमली और केरी के बने पदार्थों) को तथा मद्य (मदिरा) को मिट्टी से बने पात्र में देवें। अथवा शीतल और शुभ कांच व स्फटिक के बने पात्रों में भक्ष्य भोज्य पिरोसें एवं राग, षाडव और सट्टक (विविध प्रकार के अचार, मुरब्बे को वैडूर्य मणि से बने पात्रों में भरकर भोक्ता के पास रखें।

पानक से आम और इमली से बने पेय का ग्रहण करें।
राग से अनेक प्रकार के आचार का ग्रहण होता है।
षाडव से मधुर तथा अम्ल रस वाले मुरब्बे लेवें।
सट्टक को ऊख (सांठे) तथा जामून फल के रस से बनाये हुए सिरके समझें।

विभिन्नपात्रभोजनगुणाः

दोषहृद् दृष्टिदं पथ्यं हैमं भोजनभाजनम् ।
रौप्यं भवति चक्षुष्यं पित्तहृत् कफवातकृत् ।।
कांस्यं बुद्धिप्रदं रुच्यं रक्तपित्तप्रसादनम् ।
पैत्तलं वातकृद्रूक्षमुष्णं कृमिकफप्रणुत् ।।
आयसे काचपात्रे च भोजनं सिद्धिकारकम् ।
शोथपाण्डुहरं बल्यं कामलापहमुत्तमम् ।।
शैलेये मृण्मये पात्रे भोजनं श्रीनिवारणम् ।
दारूद्भवे विशेषेणारुच्यं सुश्लेष्मकारि च ।।
पात्रं पत्रमयं रुच्यं दीपनं विषपाप्मनुत् ।।

(भा. प्र.)

सोने के पात्र में भोजन करने से त्रिदोषों का नाश होता है तथा नेत्रों की ज्योति बढ़ती है तथा सर्वप्रकार के सुवर्णपात्र पथ्यकारी होते हैं तथा इनमें भोजन करने से मेधा (स्मरणशक्ति), स्मृति (भूतार्थविज्ञान) और बुद्धि बढ़ती है । चाँदी के पात्रों में भोजन करने से नेत्रों के लिए हितकारी तथा पित्त का नाश होता है एवं कफ तथा वात की वृद्धि होती है । कांसे के पात्र में भोजन करने से बुद्धि बढ़ती है, भोजन में रुचि उत्पन्न होती है एवं रक्तपित्त रोग का संशमन होता है ।

पित्तल के पात्रों में भोजन बनाते या करने से वायु की वृद्धि, रुक्षता, उष्याता की उत्पत्ति एवं विविध कृमि और कफ का नाश होता है । लोहे तथा काच के बने हुए पात्रों में भोजन करने से सर्वप्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है एवं शोथ, पाण्डुरोग का नाश होता है तथा बल की वृद्धि होती है तथा कामलारोग नष्ट होता है । पत्थर और मिट्टी से बने हुए पात्रों में भोजन करने से श्री या शोभा का निवारण होत्ता है । दारु (लकड़ी) के बने हुए पात्रों में भोजन करने से विशेषरूप से अरुचि और कफ की वृद्धि होती है । किसी भी वृक्ष (पलास या महुवा, आकड़ा, सागवान और बहेड़े के पत्तों से बनाये हुए पात्रों (पत्तलों दोनों) में भोजन करने से रुचि बढ़ती है । पाचकाग्नि दीप्त होती है एवं विष तथा पाप का नाश होता है ।

भोजनोपकल्पनम्

पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे ।
सूदः सूपौदनं दद्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ।।
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च ।
तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ।।

प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः।
खड़ान् यूषांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत्।।
सर्वान् गुडविकारांश्च रागषाडवसट्टकान्।
पुरस्तात् स्थापयेत् प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यतः।।
एवं विद्याद्धि मतिमान् भोजनस्योपकल्पनम्।।

(सु. सू. अ. ४६)

सूद (रसोईया) भोजन करने वाले के सामने निर्मल, चौड़े और मनोहर पात्र (स्टील या कांस्य की थाली या कटोरी) में दाल तथा थाली में भात एवं अच्छी तरह संस्कृत (निर्मित) किये हुए चाटने योग्य (लेह्य) पदार्थ कटोरी या पत्थर की प्याली (पथरी) में पिरसे एवं विविध प्रकार के फल सर्वप्रकार के भक्ष्य तथा सूखे पदार्थ भोक्ता के दक्षिण भाग में स्थापित करे तथा अधिक द्रव पदार्थ, भांति-भांति के रस, जल, पानक (इमली या कच्ची केरी को अग्नि के भोभर में गाड़ के बनाया हुआ पानक या पणा अथवा शर्बत, दुग्ध, षड (अम्ल पदार्थ), यूष और पेया आदि को भोक्ता के दक्षिण पार्श्व में रखें एवं गुड़ से बने हुए सर्व पदार्थ तथा राग षाडव और सट्टक को भोक्ता के सन्मुख वाम तथा दक्षिण में रखे हुए खाद्य पदार्थों के मध्य में स्थापित करे। इस प्रकार बुद्धिमान् परिवेषक (परोसने वाला मनुष्य) भोक्ता के लिए भोजनीय पदार्थों के पिरसने का क्रम समझे।

महानस (उत्तम भोजनशाला)

गौरीमतादिलिखिताखिलपाकसम्पत्।
व्यापारितौदनिकसंभ्रमदर्शनीयम्।।
स्वप्नेऽपि वैरीजनगोचरतामयातम्।
चन्द्रद्रवैः सुरभितं भुजिकर्मधाम।।

(क्षे. कु.)

आचार्य क्षेमकुतूहल लिखते हैं कि गौरीमतादि ग्रन्थों के अनुसार सर्वप्रकार के पाक के लक्षणों से युक्त अथवा पाक करने के लिए सर्वप्रकार की वस्तुएं (भोजन निर्माणपात्र) जहां विद्यमान हों, शीघ्रता से भोजन निर्माण कार्य करते हुए रसोईए जिसमें या जहां हो ऐसा तथा जहां स्वप्न में भी शत्रुओं की दृष्टि का गोचर (लक्ष्य) न हुआ हो और चन्द्र (कर्पूर) के द्रव (कर्पूर जल) का छिड़काव किया हुआ हो ऐसा सुगन्धित भोजनालय होना चाहिए। कर्पूर जल से धोने से मच्छर, खटमल और जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

सुश्रुतमतानुसारमहानसवर्णनम्

आप्तान्वितमसंकीर्णं शुचि कार्यं महानसम् ।
तत्राप्तै र्गुणसम्पन्नमन्नं भक्ष्यं सुसंस्कृतम् ।।

हितैषी रसोईए तथा नौकरों से युक्त एवं संकीर्णता से रहित (बड़े खुले स्थान में निर्मित) तथा फर्श, दिवाल और आसपास की उत्तमता के कारण पवित्र, ऐसा महानस बनाना चाहिए। ऐसे महानस में बैठ के हितैषी रसोइए के द्वारा बनाया हुआ सर्वगुणों से युक्त तथा अच्छी प्रकार संस्कृत किया हुआ एवं आप्तजनों से परोसा हुआ अन्न (भोजन) सेवन करना चाहिए।

भोक्तायोग्यस्थानम्

भोक्तारं विजने रम्ये निःसम्बाधे समे शुचौ ।
सुगन्धिपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ।।

भोक्ता को जनरहित रम्य (सुन्दर), सर्व बाधाओं (विघ्नों) से रहित एवं समान भूमि ले, पवित्र तथा सुगन्धित पुष्पों से सुसज्जित प्रदेश में बिठा के भोजन करावें।

राजयोग्यं महानसम्

प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचिभाण्डं महच्छुचि ।
सजालकं गवाक्षाढ्यमात्मवर्गनिषेवितम् ।।
विकक्षकक्षसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम् ।।
परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेच्चापि महानसम् ।
तत्राध्यक्षं नियुञ्जीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम् ।।

(सु. क. अ. ९)

प्रशस्त दिशा तथा उत्तम प्रदेश में बनाये हुए महानस में अनेक प्रकार के पवित्र भाण्ड (बर्तन) रखे हुए हों तथा अत्यन्त पवित्र हो, एवं पर्याप्त लम्बा चौड़ा हो और धुंआ निकलने के लिए हवा और प्रकाश आने के लिए जालियों तथा झरोखों से युक्त होना चाहिए। उसमें काम करने वाले आत्मीय (हितैषी) हों तथा घास-संग्रहस्थान के सम्पर्क से रहित हो तथा चन्दवायुक्त अथवा छत वाला एवं उसमें पञ्चदेवों की पूजा भी होती हो। जितने भी उसमें कार्य करने वाले स्त्री-पुरुष हों वे पूर्णतया परीक्षित हों तथा उसका अध्यक्ष (मैनेजर) प्रायः वैद्य के गुणों से युक्त होना चाहिए जिससे वह स्वास्थ्य एवं बलवर्द्धक भोजन बनवा सके।

राजगृहे प्राणाचार्यनियुक्तिः

राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत् ।
सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्रैवाप्रमादवान् ।।

अन्नपानं विषाद्रक्षेद् विशेषेण महीपतेः।
न विश्वसेदतो राजा कदाचिदपि कस्यचित्।।

क्षेमकुतूहल आचार्य लिखते हैं कि राजा राजगृह (महलों) के पास ही प्राणाचार्य को रखे। इस प्रकार वह हमेशा सर्व खाद्य पेय विषयों में प्रमादरहित होता है। प्राणाचार्य विशेषतः राजा के अन्न (खाद्य) और पेय पदार्थों को विशेष सुरक्षित रखता है क्योंकि राजा के अनेक शत्रु होते हैं अतः राजा कभी भी किसी का भी विश्वास न करे।

महानसिकवैद्ययोग्यता

आयुर्वेदकृताभ्यासः सर्वत्र प्रियदर्शनः।
युक्तिहेतुसमायुक्त एष वैद्योऽभिधीयते।।

आयुर्वेद का जिसने पूरा अभ्यास किया हो, तथा सर्वत्र प्रिय दर्शनों वाला एवं युक्ति (भोजनादि निर्माण विधि विज्ञ) तथा हेतु (रोग के कारणों) के ज्ञान से समायुक्त (सम्पन्न) ऐसा वैद्य होना चाहिए।

सुश्रुतमतम्

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं सततोत्थितम्।
अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम्।।
क्रोधपारुष्यमात्सर्यमदालस्यविवर्जितम्।।
जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिं शीलदयान्वितम्।
मेधाविनमसंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम्।।
पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षं मायाविवर्जितम्।
पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम्।
महानसे प्रयुञ्जीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम्।।

(सुश्रुत)

सुश्रुताचार्य लिखते हैं कि उच्च कुल वाला, धार्मिक, स्निग्ध स्वभाव का, सुभृत (सुरक्षित), निरन्तर सावधान रहने वाला, लोभ रहित तथा अशठ (अधूर्त या सज्जन), ईश्वर का भक्त या राजा का भक्त, किये हुए उपकार को जाननेवाला, देखने में सुन्दर हो एवं क्रोध, कठोरता, मात्सर्य (डाह), मद (अभिमान) और आलस्य से रहित, जितेन्द्रिय, क्षमावान्, पवित्र, शील (सदाचार) तथा दया से युक्त, मेधावी (धारणाशक्ति युक्त) तथा श्रम से न थकनेवाला, स्वामी में अनुराग वाला, एवं स्वामी का हित चिन्तक, चतुर, प्रगल्भ (वाग्मी या ढीठ), विपुण, दक्ष, छलकपट रहित

एवं पूर्वोक्त वैद्य के गुणों से युक्त तथा सदा अपने पास विषनाशक एवं विषरक्षक औषधियों को रखनेवाला, तथा आयुर्वेद का ज्ञाता तथा आयुवेदज्ञों से पूजित (प्रशंसित) ऐसे वैद्य को महानस (रसोईघर) में नियुक्त करें।

भोजनालयकर्मचारीगणा:

सूदकार: (रसोईया)

पितृपैतामहो दक्षः शास्त्रज्ञः स्वादुपाचकः।
शौचयुक्तोऽथ भक्तश्च सूदकारः प्रशस्यते।।

पिता तथा पितामह आदि वंश परम्परा से आया हुआ, अर्थात् पिता तथा पितामह से रसोई करने के व्यापार वाला, चतुर, पाकशास्त्र का ज्ञाता, स्वादुपाचक, पवित्रतायुक्त एवं ईश्वर का भक्त ऐसा रसोईया प्रशस्त माना गया है।

अन्यच्च

भवेयु र्धार्मिकाः स्निग्धाः सूदकाराः क्रमागताः।
कृतोष्णीषाश्च तथा वैद्यवशे स्थिताः।।

रसोईए वंश परम्परा से आये हुए, धर्मपरायण, स्निग्ध स्वाभाव वाले, शिर पर पगड़ी बांधे हुए एवं महानस वैद्य के बश में रहने वाले (आज्ञाकारी) होने चाहिएं।

परिवेषक:

स्नातश्चन्दनचर्चितः सुवसनः स्त्रग्वी प्रसन्नाननः।
स्पष्टात्मा सुभगः प्रसन्नहृदयः श्रीकान्तपूजारतः।।
स्वामिस्नेहपरः सुपाकनिपुणः प्रौढो वदान्यः शुचिः।
विप्रो वा परिवेषकः सुकुलजश्चान्योऽपि वा भूपतेः।।

राजा को भोजन परोसने वाला भी स्नान किया हुआ, चन्दन लगाया हुआ, अच्छे वस्त्र पहना हुआ, पुष्पमालाधारी, प्रसन्न चित्त वाला, स्पष्ट आत्मा वाला (जिनकी आत्मा में स्वामी के प्रति कोई बुरी भावना न हो), ऐश्वर्ययुक्त, प्रसन्न हृदय वाला, श्रीकान्त (भगवान् विष्णु) की पूजन करने वाला, स्वामी के स्नेह में परायण, प्रौढ़ आयु वाला ब्राह्मण या अन्य श्रेष्ठ जाति में उत्पन्न होना चाहिए।

परिवेषिका

स्नाता विशुद्धहृदया नवधूपिताङ्गी।
कर्पूरसौरभमुखी नयनाभिरामा।।
बिम्बाधरा शिरसि बद्धसुगन्धिमाला।
मन्दस्मिता क्षितिभृतां परिवेषिका स्यात्।।

स्नान करके विशुद्ध एवं सुन्दर वस्त्र पहनी हुई, नवीन धूप से अपने अङ्गों को सुगन्धित की हुई तथा मुख में रखे हुए कर्पूर की सुगन्ध से सुगन्धित मुख वाली, सुन्दर नेत्रों वाली अथवा भोक्ता के नयनों (नेत्रों) को प्रिय लगने वाली एवं पके हुए बिम्ब (कुन्दरु, टिंडोरी) के समान लाल अधरोष्ठ वाली, शिर में सुगन्धियुक्त पुष्पमाला को बांधी हुई तथा मन्द-मन्द मुस्कान करने वाली ऐसी परिवेषिका राजाओं के लिए होनी चाहिए।

पाकपात्राणि—पूर्वकाल में सुवर्ण, रजत, ताम्र, लोहादि के पात्रों की अपेक्षा सामान्य गृहस्थियों तथा गरीबों के घरों में अधिकतर मिट्टी के ही पात्र काम में आते थे। साधारणतया उत्तम मृत्तिका के बनाये हुए पात्रों को जल से धोकर काम में लेवें तथा बाद में उन्हें शीत या उष्ण जल से प्रक्षालित कर शुद्ध कपड़े से पोंछ के सुरक्षित रख देने चाहिए। मृतिका पात्रों में बनाया हुआ भोजन रुचिकारक और गुणयुक्त होता है ऐसी सब आचार्यों की सम्मति है। अभी भी कई प्रान्तों के छोटे-छोटे ग्रामों में गरीब काश्तकार तथा मजदूर वर्ग मृत्तिका पात्रों का प्रयोग करते हैं।

लौहपात्र—मृत्तिका पात्र उपलब्ध न होने पर लोहे के बने पात्रों में भोजन बनाना चाहिए। लौहपात्र निर्मित भोजन नेत्र विकार तथा अर्श (बवासीर) को नष्ट करता है।

कांस्यपात्र में बनाया हुआ भोजन हितकारी, बुद्धिवर्धक तथा पवित्र होता है। ताम्रपात्र में बनाया हुआ भोजन अरुचिकर तथा अम्लपित्त का जनक है। सुवर्ण एवं रजत पात्रों में बनाया हुआ भोजन सर्वदोषों (त्रिदोष) का नाशक, बुद्धिवर्धक तथा उत्साहदायक होता है।

धनाढ्य तथा राजपुरुषों के रसोई गृहों में सुवर्ण तथा रजत के पात्रों में भोजन पकाना चाहिए, परन्तु इन पात्रों के चोरी हो जाने की समस्या बनी रहती है एवं आजकल स्टील के पात्रों का अधिक प्रचलन हो जाने से भी स्वर्ण रजतादि पात्रों की परिपाटी प्रायः देखने में नहीं आती है।

महानसोपयोगी अन्य उपकरण

वस्तूनि भोजनार्हाणि विविच्यानि पुनः पुनः।
सर्वाणि गुणयुक्तानि स्थापितानि महानसे ।।
दास्याप्ता मार्जनी वाटी पूतहण्डी सुकुर्चिका।
घर्षणी वैणवं पात्रं जलपूर्णस्वलिञ्जरः ।।
शलाका वह्निजननी कुद्दालं सुकुठारकः।
दारुखण्डानि शुष्काणि हस्तमात्रकृतानि च ।।

अजीर्णान्यतिस्थूलान्यजन्तून्यमलानि च ।
तत उच्चालनी पीठो मुसलं चाप्युलूखलम् ।।
सूर्पं लोष्ठं शिला दर्वी चतुरस्त्रा च पट्टिका ।
सन्दंशकन्तु युगलं वस्त्रखण्डचतुष्टयम् ।।
नालिका छुरिका चैव सुशूल्यं सकटाहकम् ।
वह्निसञ्चालनार्थाय दर्वी दीर्घा सुलोहजा ।।
इत्यादि वस्तुजातं हि युज्यते च महानसे ।।

(क्षेमकु.)

भोजन में प्रयुक्त होने वाली सभी वस्तुएं जैसे आटा, दाल, चावल, शाक, सब्जी, फल, दुग्ध, छाछ आदि पेय एवं आचार, मुरब्बे, मसाले इत्यादि सभी को भली-भांति उत्तमता की दृष्टि से बार-बार देख के या परीक्षित कर उच्च गुणों वाले हों उन्हें रसोई घर में पृथक्-पृथक् ढक्कनदार डिब्बों, कांचपात्रों, वरणियों, अमृत बानों में रखना चाहिए। हितचिन्तक दासी सेवाकार्य में रखें तथा झाड़ू, वाटी (तपेली, भगूना), साफ हण्डिका, अच्छी कूंची, घर्षणी (खरल या ओखली), वेणु (बांस) के पात्र (टोकनियाँ), जल से भरा हुआ अलिञ्जर (घड़ा), अग्नि की खंखोरने के लिए लोहशलाका, अग्नि उत्पन्न करने के लिए चकमक या दियासलाई, खोदने के लिए कुद्दाली, लकड़ी फाड़ने, चीरने को अच्छी कुल्हाड़ी या कुल्हाड़ा, एक-एक हाथ लम्बी लकड़ी के सूखे खण्ड (डण्डे या टुकड़े) जो कि पुराने न हों तथा अधिक मोटे भी न हों एवं जन्तुओं से रहित तथा निर्मल होने चाहिए। आटा, मैदा छानने की छोटी-मोटी एवं बड़े तथा छोटे छेद वाली चलनियां, बैठने को लकड़ी का पीढ़ा (पाटा), धान खांडने को मूसल तथा ओखली, लोहे के हमामदस्ते, दाल, रवा, फाड़ा झटकने को सूप, लोढ़ा, सील-बट्टा, कलच्छी, कपड़े की चौकोर पट्टियां, दो सड़सियां, वस्त्र के चार टुकड़े, अग्नि तेज करने के लिए लोहे या बांस की नलियां (भोगलियां), साग काटने को चाकू तथा छुरिका, मांस के टुकड़े अटका के अग्नि में भूंजने के लिए लोह की तीखी नोक वाली शलाकाएं, लोहे, पीतल तथा स्टील की कड़ाहियाँ, अग्नि खंखोरने (चलाने) के लिए अच्छे लोहे की बनी हुई लंबी कलछी आदि आवश्यक वस्तुएँ रसोई घर में एकत्रित करें।

आजकल उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोगों के रसोईघरों में गैस के चूल्हे तथा गैस की टंकिया भोजन पकाने में प्रयुक्त होने लग गई हैं तथा दाल, भात बनाने के लिए कूकर और बाफले, बाटियां तथा चूरमा बनाने के लिए ओवन का प्रचार हो गया

है। अमरस निकालने एवं गाजर का चूरा करने के लिए मिक्की प्रयुक्त होती है। पक्व भोज्य पदार्थों की सुरक्षा.......

भोजनपात्रादिशुद्धिः

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धादिकर्षणात्।
वाक्शस्तमम्बुनिर्णिक्तमज्ञातञ्च सदा शुचि ।।

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

अमेध्य (अपवित्र) पदार्थों से युक्त पात्रों की शुद्धि के लिए उन पर अच्छी जगह की गिली मिट्टी घिस के जल से धो देने पर शुद्धि हो जाती है तथा किसी ने अपनी वाणी से जिस पात्र को शुद्ध कह दिया हो, तथा जल में डूबा हुआ एवं अज्ञातपात्र सदा शुद्ध होता है।

तैजसमणिपात्रादिशुद्धिः

तेजसानां मणिनाञ्च सर्वस्याश्ममयस्य च।
भस्मनाऽद्भि मृदा चैव शुद्धिरूक्ता मनीषिभिः ।।
निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्धयति।
अब्जमश्ममयञ्चैव राजतं चानुपस्कृतम् ।।
अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यञ्च निर्बभौ ।।
ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः।
द्रवाणाञ्चैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम्।
प्रोक्षणं संहतानाञ्च दार्वाणाञ्च तक्षणम् ।।

(म. अ. ५)

चमकदार कांचादि पात्र तथा मणि (रत्न) निर्मितपात्र एवं सर्वप्रकार के पत्थरों के पात्रों की शुद्धि विद्वानों ने कण्डों (छाणों) की राख, जल और मृत्तिका से करने को कहा है। किसी प्रकार के खराब लेप से रहित सोने का पात्र जल से केवल धो डालने से शुद्ध हो जाता है।

जल में उत्पन्न हुई सीप के पात्र, पत्थर के पात्र तथा लेप रहित चांदी के पात्र भी केवल जल से धो लेने पर शुद्ध हो जाते हैं।

भूगर्भ (पृथिवी) में जल और अग्नि के रासायनिक संयोग से सुवर्ण तथा रजत (चांदी) उत्पन्न होती है, इसलिए सुवर्ण और रजत पात्रों की शुद्धि उनके उत्पादक

द्रव्यों से करनी चाहिए। अर्थात् सुवर्ण रजत पात्रों को अग्नि में तपाकर जल में डुबो के शुद्ध करना चाहिए। ताम्र, लौह, कांसे, पीतल, रांगा (वंग) और सीसे के पात्रों की शुद्धि यथायोग्यतानुसार क्षार एवं अम्लों के विलयनों (घोलों) और पानी से करनी चाहिए। सर्वप्रकार के द्रव पदार्थों की शुद्धि उनके ऊपरी भाग को स्वल्प मात्रा में निकाल देने से हो जाती है। अर्थात् किसी द्रव पदार्थ की ऊपरी सतह पर श्वेत फफूंद जमी हो उसे निकाल के फेंक दें।

संहत (संलग्न या चिपकी हुई) अशुद्धि को प्रोक्षण (जल छिड़क के कपड़े से पोंछने से दूर करें तथा लकड़ी के बने हुए पात्रों की शुद्धि उन्हें ऊपर-ऊपर से कुल्हाड़ी या बंसुले से छीलकर करें।

आहारघटक

पांच भौतिक आहार–

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्॥

(सु. सू. अ. ४६)

आयुर्वेदमतानुसार—यह शरीर पञ्चमहाभूतों से बना हुआ है अतएव इसके पोषण के लिए, बल वृद्धि के लिए तथा क्षति की पूर्ति के लिए जो आहार है वह भी पञ्चमहाभूतात्मक ही हो सकता है क्योंकि जो वस्तु जिन तत्त्वों से बनी है उसका संरक्षण तथा पोषण भी वे ही तत्त्व कर सकते हैं अतएव आहार पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों वाला माना गया है।

पञ्चतत्त्वात्मक आहारः

शरीर की उत्पत्ति, स्थिति (संरक्षण संधारण) और वृद्धि आहार से ही होती है तथा देह भी आहार से ही उत्पन्न है—"देहो ह्याहारसम्भवः"। इस दृष्टि से यह चराचर (स्थावर जङ्गमात्मक) अथवा सजीव और निर्जीव समस्त संसार पञ्चमहाभूतों से ही बना होने से चिकित्साशास्त्र में उन पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का विचार नहीं किया गया है जैसाकि लिखा है—

"भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते" (सु. शा. अ. १)

इसलिये आहार का योग्य सङ्गठन वही हो सकता है जो कि हमारे शरीर का है। अर्थात् हमारे आहार का सङ्गठन भी पञ्चतत्त्वात्मक है।

यद्यपि प्रत्येक द्रव्य पञ्च महाभूतों के न्यूनाधिक भाग से बने हैं किन्तु जिस द्रव्य में जिस भूत की अधिकता होती है वह द्रव्य उस भूत वाला माना जाता है।

पार्थिव आहार—स्थूल, सारभूत, ठोस, मन्द, स्थिर, भारी अधिक गंध वाला, किञ्चित् कषाय रस परन्तु अधिकतर मधुर रस वाला पार्थिव आहार माना गया है इससे शरीर की स्थिरता, गुरुता, शक्ति और काठिन्य बढ़ता है। उदाहरणार्थ—जितने भी यव, गेहूं, बाजरा आदि ठोस, भारी और कठिन अन्न हैं वे सब पार्थिव हैं।

जलीय आहार—शीतल, चिकना, मन्द, फैलने वाला, अधिक रसयुक्त, द्रवप्राय तथा कुछ कषाय, अम्ल और लवणरसयुक्त तथा मधुर रस की अधिकता वाला जलीय आहार माना गया है। जलीय आहार शरीर में स्नेहन, तृप्ति, आर्द्रता, बन्धन और विस्रवण का कार्य करता है। उदाहरणार्थ पानी, दुग्ध, घृत, तैल तथा जितने भी पोषक द्रव पदार्थ हैं वे जलीय आहार के उदाहरण हैं।

तैजस आहार—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रूक्ष, खर, हल्के, रूप गुण की अधिकता वाले, किञ्चित् अम्ल और लवण रसयुक्त तथा अधिक कटु (चरपरे) रस वाले एवं ऊर्ध्वगमन स्वभावी तैजस आहार द्रव्य होते हैं। यह तैजस आहार शरीर में दहन, पचन, विदारण, तापन, प्रकाशन, कान्ति और वर्णको बढ़ाने वाला माना गया है जैसे सोंठ, मरिच, पीपल, चित्रक, सरसों, राई आदि अन्नसंस्कारक द्रव्य तैजस आहार के उदाहरण हैं।

वायवीय आहार—जो पदार्थ सूक्ष्म, रूक्ष, खुरदरे, शीत, हल्के, विशद, स्पर्श गुणज्ञेय, किञ्चित् तिक्तरस वाले किन्तु विशेषतया कषायरस युक्त हों वे वायवीय आहार द्रव्य हैं। यह आहार शरीर में विशदता, हल्कापन, ग्लानि या अवृष्यत्व, रौक्ष्य और अनेक विचारों (कल्पनाओं) के जनक होते हैं, उदाहरणार्थ—चने, मटर आदि हैं।

आकाशतत्त्वयुक्ताहार—मसृण, सूक्ष्म स्रोतसों में प्रवेशनशील, कोमल, व्यवायि (शीघ्र शरीर में व्याप्त होने वाले) विशद गुणी आकाशीय द्रव्य हैं। इनमें शब्द बाहुल्य गुण होता है। अर्थात् ये द्रव्य कुछ पोले होने से इनमें सांसारिक शब्द प्रविष्ट होते रहते हैं। आहार द्रव्यों के निर्माण की दृष्टि से ये पांच भेद किये गये हैं। अन्य दृष्टि से शीतोष्णवीर्य प्रधान द्विविध आहार, भक्ष्य, भोज्य, पेय लेह्य भेद से चतुर्विध आहार। मधुर, अम्ल आदि षड्रसों की दृष्टि से षड्विध आहार के भेद हैं।

ऋतुरसानुसार आहारभेदाः—ऋतुओं के छ भेद शास्त्र में कहे गये हैं—"षड्ऋतवोभवन्ति" तदनुसार तथा मधुर, अम्ल आदि रस भी छ प्रकार के माने गये हैं, अतएव इन छ प्रकार के रसों के आधार से आहार भी छ प्रकार का माना गया है। विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न वात-पित्तादि दोषों का प्रकोप होता है अतएव उन दोषों के संशमनार्थ आहार के भी छ रसों के आधार से छ भेद आवश्यक हैं।

वायुसंचयप्रकोपानुसारेण भोजनम्

''ग्रीष्मे सञ्चीयते वायुर्वर्षाकाले प्रकुप्यति'' वायु का संचय ग्रीष्म में तथा प्रकोप वर्षा ऋतु में होता है, अतएव इन दोनों ऋतुओं में वातसंशमन करने वाले स्वादु, अम्ल और लवण रसों से युक्त भोजन करना चाहिए।

त्रिदोषशामका रसा:

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तका:।
जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तका:।।

मधुर, अम्ल और लवण रस वायु को तथा कषाय, स्वादु और तिक्त रस, पित्त को एवं कषाय, कटु और तिक्त रस कफ को शान्त (नष्ट) करते हैं।

दुग्ध, घृत, गेहूं, शर्करा, दाडिम, आंवला, मूंग की दाल, घृत तैल संस्कृत शाक आदि ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में वातशमनार्थ पथ्य आहार माना गया है।

पित्तचयप्रकोपसमय:

''**वर्षायां चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति**'' वर्षा ऋतु में पित्त का सञ्चय तथा शरत्काल में पित्त का प्रकोप होता है।

पित्तप्रकोप शामक—पित्त प्रकोप तथा तज्जन्य रोगों को शान्त करने के लिए सर्वप्रथम रोगी को विरेचन देना चाहिए क्योंकि विरेचन पित्त की शान्ति करने के लिए परम औषध है—''**विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्**''।

विरेचन के अतिरिक्त कषाय, मधुर और तिक्त रस वाले आहार तथा पेय एवं इन्हीं रस वाले फलों का सेवन करना चाहिए। जैसे गेहूँ के आटे की रोटी, मूंग की दाल, दुग्ध, घृत, करैले की शाक, परवल की शाक, पित्तपापड़े की शाक आदि पित्तशमन में श्रेष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त आँवला, मोसमी, चीकू, केला, कुष्माण्डावलेह, चन्दन और खस के शर्बत, नीबू का शर्बत, केवड़े और गुलाब के शरबत ये पित्त तथा पित्त प्रकोपजनरोगों के शमनार्थ श्रेष्ठ हैं।

कफचयप्रकोपानुसारभोजनादिव्यवस्था

''**हेमन्ते निचित: श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्**'' हेमन्त ऋतु में कफ का सञ्चय तथा वसन्त ऋतु में प्रकोप होता है, अत: कफशामक रस जैसे कषाय, कटु और तिक्त रस प्रधान अन्न तथा पेयों का प्रयोग करना चाहिए। आहार में ज्वार, बाजरा, मकई, गेहूँ, पुराना गुड़, तैल तथा कटु द्रव्यों (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का सेवन इन ऋतुओं में श्रेष्ठ है। इस तरह छह ऋतुओं की दृष्टि से छह प्रकार का आहार है।

पेयादिचतुर्विधाहार:

पेय, लेह्य, भक्ष्य और भोज्य दृष्टि से आहार के चार भेद किये गये हैं। पेय और लेह्य पदार्थ पित्त तथा वायु के शामक, भक्ष्य और भोज्य पदार्थ वातशामक तथा स्वस्थ पुरुष गुणानुसार उन्हें विभिन्न दोषों को शान्त करने वाले समझ के उपयोग में लेवें।

द्विविधवीर्याहार:

अनेक प्रकार के खाद्य तथा पेय शीतवीर्य होते हैं जो वातवर्द्धक, पित्तशामक तथा कुछ कफ के भी वर्द्धक होते हैं अत: उनका वीर्यानुसार प्रयोग करें। कुछ आहार तथा पेय उष्णवीर्य होते हैं जो कि वायु तथा कफ के शामक माने गये हैं अत: वात तथा कफ के रोगों में उनका प्रयोग करें तथा ऋतुओं और दोषों के अनुसार उपयोग में लें।

अष्टविधवीर्याहार:

शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण ऐसे अष्टविध वीर्य आहार द्रव्य होते हैं। इनको भी देश, काल, दोष और प्रकृति, मनुष्य की समझ कर प्रयुक्त करें तथा रुग्ण मनुष्य को आहार देते समय इन बातों का पूर्णविवेचन करना आवश्यक है।

एलोपैथी के अनुसार आहार घटक—भोजन के लिए जितने भी पदार्थों का प्रयोग होता है वे फेट, प्रोटीन, कार्बन, हाईड्रोजन, आक्सीजन, नाईट्रोजन, फास्फोरस, कैल्सियम, गन्धक, लौह आदि के संयोग से बने हुए होते हैं। कुछ पदार्थों में नाईट्रोजन की मुख्यता रहती है तथा कुछ नाईट्रोजन से रहित होते हैं। इस तरह भोज्य पदार्थों का प्रथम वर्गीकरण दो प्रकार का है—

(१) नाईट्रोजन युक्त।

(२) नाईट्रोजन रहित।

नाइट्रोजन युक्त पदार्थ प्रोटीन कहलाते हैं। नाइट्रोजन रहित पदार्थ प्रधानतया कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के संयोग से बने होते हैं, पुन: इनके दो भाग किये जाते हैं, जिन्हें—(१) कारबोहाइड्रेट और (२) वसा या स्नेह कहते हैं। इनके अतिरिक्त भोजन में जो लवण (साल्टस) आदि मिश्रित होते हैं उनकी कार्बनिक पदार्थों में गणना है।

कार्बनिक पदार्थ—

नाइट्रोजन युक्त—प्रोटीन

नाइट्रोजन रहित— १. कारबोहाइड्रेट—शकर, मैदा।
२. स्नेह या वसा—घृत, तैल, मक्खन।
३. वानस्पतिक अम्ल।

अकार्बनिक पदार्थ— १. जल।
२. लवण।

इस प्रकार उक्त वर्गीकृत अवयव भोजन के सर्वपदार्थों में पाये जाते हैं किन्तु भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न-भिन्न अवयवों की प्रधानता होती है—उदाहरणार्थ मांस, अण्डे, दुग्ध तथा दालों में प्रोटीन का भाग विशेष होता है। चावल, जव, गेहू इत्यादि अन्नों में कार्बोहाइड्रेट का अधिक भाग पाया जाता है। घी, तैल तथा वसा स्नेह प्रधान भोजन के अवयव हैं।

यद्यपि शरीर को प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और स्नेह इन तीन प्रधान भोजनाङ्गों की आवश्यकता होती है किन्तु जल और लवण की भी शरीर को पूर्ण आवश्यकता है। प्रत्येक भोज्य पदार्थ में जल और लवण अवश्य होते हैं।

विटामिन्स

इन उक्त पदार्थों के अतिरिक्त भोजन में ऐसी भी वस्तु की आवश्यकता प्रयोगों द्वारा प्रमाणित हुई है कि जो शरीर की वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी है उन्हें विटामिन्स कहते हैं। यदि किसी प्राणी को केवल शुद्ध प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट का भोजन दिया जाय तो कुछ समय के पश्चात् उसके शरीर की वृद्धि रुक जाती है किन्तु उन शुद्ध प्रोटीन आदि में ताजा दुग्ध तथा फलों का रस मिला दिया जाय तो उस प्राणी की रुकी हुई वृद्धि पुनः प्रारम्भ हो जायगी। अतः भोज्य पदार्थों में विटामिन्स का उपस्थित रहना भी अत्यावश्यक है।

इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भोजन में (१) फेट (घृत, तैल, वसा, मज्जा), (२) प्रोटीन, (३) कार्बोहाइड्रेट, (४) लवण (साल्टस), (५) जल और (६) विटामिन्स—ये छ पदार्थ अत्यन्त आवश्यक हैं।

मुख्य तात्त्विक पदार्थ तथा उनका कार्य

(१) फैट—यह ग्लिसरीन और वसाम्ल (फैटी एसिड्स) का यौगिक है। इससे शरीर में उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। फैट के ज्यादा सेवन करने पर यह शरीर में सञ्चित होकर सञ्चित शक्ति का कार्य करती है। कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा फैट से शरीर में ढाई गुनी शक्ति अधिक उत्पन्न होती है। फैट या मेद के

उदाहरण घृत, मक्खन, स्थावर (वानस्पतिक) बीजों और जङ्गम प्राणियों के स्नेह (तैल) होते हैं। बादाम, पिस्ता, अखरोट, नारियल आदि की गिरी में वसा अधिक प्रमाण में पाई जाती है। फैट या वसा के न मिलने पर शरीर को प्रोटीन की आवश्यकता होती है।

(२) प्रोटीन—शरीर के सेल्स के लिए यह अत्यन्त आवश्यक घटक हैं। शरीर के ह्रास की पूर्ति तथा रसरक्तादि धातुओं की वृद्धि के लिए प्रोटीन की बहुत आवश्यकता है। शरीर में प्रोटीनों का जो कार्य है वह अन्य प्रकार के पदार्थों से पूर्ण नहीं हो सकता है। प्रोटीन दुग्ध, मांस, अण्डे, मच्छली और दालों में पाई जाती हैं। हमारे शरीर के विभिन्नाङ्गों में प्रोटीनों का बहुत भाग रहता है।

प्रोटीन कार्य—

(१) शरीराङ्गों की क्षति की पूर्ति तथा शरीराङ्गों का निर्माण करना।

(२) शरीर के पाचक रस तथा अन्य रस प्रोटीनों के सहयोग से निर्मित होते हैं।

(३) शरीर आक्सीजन का शरीर में उपयोग करता है इसमें प्रोटीन सहायक है।

(४) कार्बोहाइड्रेट या वसा शक्ति उत्पादन के कार्य को भी कभी-कभी करती है।

(५) आवश्यकता होने पर प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा के रूप में परिणत हो जाती है। यह एकीय मत है।

(३) कार्बोहाइड्रेट—यह शरीर में उष्णता और शक्ति को उत्पन्न करता है। इसे अधिक मात्रा में सेवन करने पर इसका मेद में रुपान्तर हो कर शरीर में सञ्चय होता है। जो व्यक्ति शारीरिक परिश्रम अधिक करते हैं उनके लिए कार्बोहाइड्रेट की अधिक आवश्यकता होती है। कार्बोहाइड्रेट वानस्पतिक पदार्थों से प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—चावल, गेहूं, आरारोट, सागोदाना, आलू, शकरकन्द, शर्करा, गुड़, मधुर फल तथा शहद मुख्य हैं।

(४) लवण—स्वास्थ्य के लिए ये अत्यन्त आवश्यक हैं। शरीर में प्राय: १/२० भाग लवण होते हैं। भोजन की प्रत्येक वस्तु में लवण होते हैं। लवणों में कैल्शियम, पोटैशियम, मैग्नेशियम, सोडियम तथा लौह और ताम्र नामक धातुओं के क्लोराइड, सल्फेट, कार्बोनेट तथा फास्फेट नामक लवण भोजन के आहार में विशेषतया होते हैं। शरीर की वृद्धि के लिए लवण अत्यावश्यक हैं तथा पाचक रसों की उत्पत्ति में विशेष सहायक होता है। आमाशयिक रस की उत्पत्ति में जो हाइड्रोक्लोरिक अम्ल होता है उसके लिये सोडियम क्लोराइड (खाने का नमक)

अत्यावश्यक है। ये लवण शरीर में क्षार और अम्ल की उत्पत्ति का नियन्त्रण करते हैं जिससे दोनों की समानता शरीर में बनी रहती है तथा रक्त की तथा अन्य शारीरिक द्रवों की प्रति क्रिया क्षारीय बनी रहती है।

शरीर की अस्थियां इन खनिज द्रव्यों (लवणों) से ही मुख्यतया बनी रहती हैं। शरीरस्थ खनिज द्रव्यों (लवणों) का ५/६ भाग केवल अस्थियों में होता है। अस्थियों के सिवाय रक्त का रञ्जक द्रव्य (हीमोग्लोबिन), आमाशयिक रस, दांत, केश, मस्तिष्क इत्यादि में लवण या खनिज होते हैं। दुग्ध, अण्डा, हरी साग-सब्जी अनाज इत्यादि में कम वैसी मात्रा में खनिज या लवण विद्यमान रहते हैं।

जलमहिमा—

जीवनं जीविनां जीवो जगत्सर्वन्तु तन्मयम्।
नातोऽत्यन्तनिषेधेन कदाचिद्वारि वार्यते॥

जीव (प्राण) धारियों के लिए जीव (अर्थात् जल) जीवित रहने के लिए अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से कभी भी जल का अत्यन्त निषेध नहीं किया जाता है।

(५) जल—यद्यपि जल आहार नहीं है फिर भी जल जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होने से भोज्य पदार्थों से उसका महत्त्व कम नहीं है। आयुर्वेद में जल को सर्व प्राणियों तथा वनस्पतियों के लिए जीवन माना है। जल के बिना संसार का कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। जल की सहायता से शरीर के भीतरी परिवर्तन होते रहते हैं। जल के बिना आहार का पाचन होना असम्भव है। जल के बिना रक्त तरल रूप में नहीं रह सकता है। जल से तरल हुआ या बना रस रक्त के साथ मिलकर सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण कर शरीर के समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों को पोषित, बृंहित, तर्पित और पुष्ट करता है। मल-मूत्रादि त्याज्य पदार्थों का शरीर से बाहर उत्सर्ग जल ही के द्वारा होता है। जल के सहयोग से ही शरीर में बने विषैले पदार्थ स्वेदरूप में तथा मूत्र रूप में शरीर से बाहर फेंके जाते हैं। मनुष्य को पीने के लिये प्रतिदिन तीन से चार सेर (४ लीटर) जल की आवश्यकता होती है। यह जल की मात्रा मानव के रहन-सहन, परिश्रम, देश, आहार, ऋतुभेद आदि पर न्यूनाधिक होती है। शीतलदेश तथा शीत के समय में उष्ण देश एवं ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा पानी कम खर्च होता है। आलसी मनुष्यों को परिश्रमशील मनुष्यों की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता होती है। मांस का आहार करने वालों को शाकाहारी की अपेक्षा अधिक पानी की आवश्यकता होती है। जब शरीर में जल की न्यूनता हो जाती है तथा आवश्यकता होने लगती है तब मनुष्यों को प्यास लगती है इस लिए तृषा को भीतरी जल की न्यूनता का निदर्शक समझना चाहिए।

फैट, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट शरीर में शक्ति, ताप और बल उत्पन्न करते हैं तथा शरीर की वृद्धि करते हैं किन्तु खनिज पदार्थ (साल्टस) तथा जल शरीर में अत्यावश्यक होते हुए भी शक्ति उत्पन्न नहीं करते हैं।

(६) विटामिन्स (जीवद्रव्य)—प्राणियों पर अनेक प्रकार के प्रयोग करने से तथा मानवों के स्वास्थ्य की परीक्षा करने पर यह प्रमाणित हुआ है कि भोजन में अन्य तत्त्वों के साथ जीवद्रव्यों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि ये तत्त्व न हों तो मानवदेह संक्रमणों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता है। इनके बिना मानव की वृद्धि पूर्ण नहीं हो सकती है। जीवद्रव्यों के अभाव में अनेक प्रकार के रोग मानव को घेर लेते हैं। जीवन के लिए भोजन में जीवद्रव्यों की उपस्थिति अत्यावश्यक है।

इन जीवद्रव्यों में रासायनिक तथा भौतिक परिवर्तन नहीं होते हैं। इनका शरीर में अधिक सञ्चय भी नहीं होता है। ये योगवाही के रूप में शरीर में कार्य करते हैं। प्राणियों में मच्छली के तैल तथा अण्डे आदि में जीवद्रव्य पाये जाते हैं तथापि इनकी विशेष उत्पत्ति या प्राप्ति वनस्पतियों तथा उनके फलों, पत्तों आदि में होती हैं। इन सभी का रासायनिक संगठन क्या है इसका भी अभी तक ज्ञान नहीं हुआ है।

अभी तक ए.बी.सी.डी.इ.के. और पी. ऐसे सात विटामिन्स का पता चल पाया है किन्तु भविष्य में और भी विदित होते रहेंगे।

विटामीन ए—यह मच्छली के तैल, अण्डे, जानवरों के यकृत् आदि अङ्गों तथा दूध, दही, मक्खन, हरी साग-सब्जियों आदि में पाया जाता है। इसकी उपस्थिति से बाल्यावस्था में शरीर की वृद्धि उत्तम होती है। यह जीवाणुजन्य रोगों से मुकाबला करने योग्य शरीर को बनाता है। इसकी अल्पता या अभाव से श्वसन, पचन तथा मूत्र वह संस्थानों में रोग उत्पन्न होते हैं। शरीर की वृद्धि ठीक नहीं होती है, शरीर दुबला हो जाता है, नेत्र के शुष्काक्षिपाक और रतौंधी रोग उत्पन्न होते हैं।

विटामीन बी—यह गेहूं, चावल के अङ्कुर, चावलों की भूसी, मटर, उड़द, खमीर (यीष्ट), अण्डे, जानवरों के यकृत, हृदय आदि अङ्ग और मूंगफली में रहता है। इसके बी$_{१}$, बी$_{२}$, बी$_{३}$, बी$_{४}$, बी$_{५}$, बी$_{६}$, बी$_{१२}$ आदि अनेक भेद हैं। बी$_{१}$ से नाड़ी संस्थान का पोषण होता है। इस विटामीन की कमी से वात बलासक (बेरी-बेरी) नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। बी$_{२}$ त्वचा का पोषण करता है। इनकी न्यूनता से पलाग्रा रोग हो जाता है।

विटामीन सी—यह जीवद्रव्य अधिकतर हरी शाक-सब्जियों तथा फलों में पाया जाता है। संतरा, नीबू, मोसमी आदि जम्बीर वर्ग के फलों में तथा गोभी, टमाटरो, गाजर, प्याज, आलू, शलगम एवं पालक, सोआ, बथुआ, हरीमिर्च आदि

तरकारियों में एवं अंगूर, आम, दुग्ध तथा अङ्कुरित अनाजों में पाया जाता है। शरीर की सूक्ष्म रक्तवाहिनियों (केशिकाओं) और दाँतों के पोषण के लिए इसकी आवश्यकता है। इसकी अल्पता या अभाव से स्कर्बी नामक रक्तस्रावी रोग उत्पन्न होता है। इसके अभाव में शरीर की वृद्धि उत्तम नहीं होती है, दाँत खराब हो जाते हैं, मसूड़ों तथा शरीर के अन्य भागों से रक्तस्राव होने लगता है एवं शरीर की जीवनीय शक्ति (वायटेलिटी) घट जाती है।

विटामीन डी—यह मच्छली के तैल, दुग्ध, अण्डे, मक्खन आदि में पाया जाता है। सूर्य की किरणों से भी यह प्राप्त होता है। दुग्ध देने वाले पशुओं को सूर्य के ताप या किरणों में चरने दिया जाय तो उनकी त्वचा में यह द्रव्य उत्पन्न होकर उनके दुग्ध में मिल जाता है। गाय की अपेक्षा भैंसे ज्यादा धूप में चरती हैं अत: उनके दुग्ध में यह ज्यादा पाया जाता है। ग्रीष्म ऋतु के ताप में चरने वाले दुधारू प्राणियों के दुग्ध में शीत कालापेक्षया यह जीवद्रव्य अधिक पाया जाता है। इस विटामीन के कारण भोजन के अन्दर विद्यमान खटिक (कैल्सियम) और फास्फोरस का सात्म्यीकरण ठीक तरह से होके अस्थि तथा दांतों का पोषण ठीक होता है तथा रक्त के स्कन्दीभवन (जमने) की शक्ति विद्यमान रहती है। इसके अभाव में बच्चों में अस्थियों का विकास रुक जाता है तथा वे टेढ़ी, कमजोर और भुरभुरी हो जाती हैं। इसके न होने से बच्चों में अस्थिवक्रता (रिकेट्स) नामक अस्थियों का रोग तथा दांतों के अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। प्रौढ़ स्त्रियों में इसकी कमी से आस्टियोमलेसिया नामक रोग उत्पन्न होता है।

विटामीन इ—यह सर्वप्रकार के बीजों में तथा उनके तैलों में, हरितपत्तों में, गेहूं के अंकुरों में, कच्चे मांस, दुग्ध और मक्खन में पाया जाता है। इसकी अल्पता या अभाव से जीवों की प्रजनन शक्ति घट जाती है जिससे सन्तान नहीं होती है अथवा हो हो के मर जाती है। स्त्रियों की गर्भावस्था में, बाल्यावस्था में तथा युवावस्था में इस विटामीन को खूब खाना चाहिए।

विटामीन के—इसकी अभी नई खोज हुई है। इसके अभाव या कमी से रक्तस्राव होता है।

विटामीन पी—यह विटामीन सी के साथ-साथ पाया जाता है तथा इसकी अल्पता से रक्तस्राव होने लगता है।

आधुनिक दृष्टि से मनुष्य के आहार में निम्न पदार्थ होना आवश्यक है। जैसे—

प्रोटीन या प्रतनक, कार्बोज, वसा, विभिन्न लवण जैसे सोडियम क्लोराइड

फास्फोरस, कैल्सियम, लौह, आयोडीन, ताम्र, तथा विभिन्न प्रकार के विटामिन्स जैसे विटामिन ए,डी, बी, निकोटिनिक अम्ल, विटामिन सी एवं जल।

भोजनोपरिपाचकाग्निप्रभाव:

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः ।। (चरक)

भोजन के न करने से तथा अधिक भोजन करने से पाचकाग्नि दीप्त नहीं होती है, जैसे इन्धन रहित, अल्प इन्धन अथवा अधिक इन्धन से चूल्हे की अग्नि प्रज्वलित नहीं होती है। अत: भोजन के अयोग, हीनयोग, मिथ्यायोग और अतियोग से भी पाचकाग्नि दीप्त नहीं होती है।

हीनमात्रादिभोजनदोषा:

हीनमात्रामसन्तोषं करोति च बलक्षयम् ।
आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम् ।। (सुश्रुत)
भोजनं हीनमात्रन्तु न बलोपचयोजसे ।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुताञ्च प्रपद्यते ।।
अतिमात्रं पुनः सर्वमाशु दोषं प्रकोपयेत् । (क्षे.कु.)
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।। (मनुः)

हीन (अल्प) मात्रा में किया गया भोजन असन्तोषजनक तथा शारीरिक बलनाशक होता है, एवं आलस्य, गौरव, आटोप (पेट में गुड गुडा शब्द) तथा पाचकाग्निनाशक होता है। इस तरह हीनमात्र भोजन बल तथा ओज की वृद्धि नहीं करता है तथा सर्व (अस्सी) प्रकार के वातरोगों की उत्पत्ति का कारण माना गया है। अधिक मात्रा में किया गया भोजन शीघ्र ही सर्वदोषों को प्रकुपित कर देता है। अतिभोजन आरोग्य में बाधक, आयु के लिए अहितकर, अस्वर्ग्य (असुखकारक स्वर्ग: सुखं) तथा पुण्यरहित एवं लोक में निन्दाजनक होता है, अत: उसका परिवर्जन कर दें।

समशनादिपरिचय:

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ।
विषमं बहु वाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः ।।
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा ।। (च.)

पथ्य तथा अपथ्य कारक वस्तुओं का मिलित भोजन समशन, अधिक तथा अल्प भोजन विषमाशन, पूर्व में किये भोजन के ठीक न पचने पर दूसरा किया हुआ भोजन अध्यशन कहलाता है। ये तीनों मृत्यु या भयंकर व्याधिजनक होते हैं।

अजीर्णदोषा:

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशात् विनश्यति ।।

(योगरत्नाकर)

आहार के वैषम्य से मनुष्यों को अजीर्ण रोग होता है तथा अजीर्ण के कारण ही अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अत: उक्त प्रकार के विषमाशनादिक से बचे रहना चाहिए। वर्तमान चिकित्सा विज्ञान के मतानुसार खनिज लवण, प्रतनक (प्रोटीन) एवं विविध विटामिन्स की न्यूनता से उत्पन्न होनेवाले निम्न रोग प्रमुख हैं।

१. प्रोटीन, फैट तथा कार्बोहाइड्रेट की मात्रा के अभाव या अल्पता से पाचक संस्थान के अनियमित हो जाने से तज्जन्य रोग होते हैं।

२. प्रोटीन की अधिकता से मन्दाग्नि (डिस्पेप्सिया) तथा यूरिन में अल्ब्यूमिनकी अधिकता हो जाती है।

३. स्टार्च तथा फैट (वसा) की अधिकता वाले भोजन से मन्दाग्नि, डायरिया आदि रोग हो जाते हैं।

४. बच्चों में प्रोटीनं की अल्पता से न्यूट्रीशनल ओइडिमा (शोथ) हो जाता है।

५. लोहतत्त्व की कमी से एनीमिया (अल्परक्तता) होता है।

६. पानी में आयोडीन की कमी से ग्वाइटर (घेघा रोग) हो जाता है।

७. विटामीन ए की कमी से झेरोक्सिस, झेरोफ्थेलमिया, शुष्कचर्मता आदि रोग हो जाते हैं।

८. विटामीन बी$_१$ की न्यनूता से बच्चे की वृद्धि में शिथिलता, नाडीशोथ तथा बेरीबेरी हो जाता है।

९. विटामीन डी की कमी से स्कर्बी, बच्चों में अस्थिरोग, दन्तखात आदि हो जाते हैं।

१०. विटामीन ई की न्यूनता से वन्ध्यता हो जाती है। (स्टेरिलिटी)

११. जल की कमी से रक्तपरिभ्रमण में तथा शरीरतापनियन्त्रण में बाधा उत्पन्न होती है।

१२. नीकोटीन अम्ल की कमी से पेलाग्रा रोग उत्पन्न हो जाता है।

दुग्धप्रकरणम्

पयोऽभिस्यन्दि गुर्वामं युक्त्या शृतमतोऽयथा ।
वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव च तद्धितम् ।।

कच्चा (बिना गरम किया हुआ) दुग्ध अभिष्यन्दी (कफवर्धक) तथा पचने में भारी होता है किन्तु उसे युक्तिपूर्वक गरम कर लेने से वह अनभिष्यन्दी तथा पचने में हल्का हो जाता है किन्तु स्त्री दुग्ध कच्चा ही हितकारी है ।

दुग्धस्य दश गुणाः

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छलम् ।
गुरु मन्दं प्रसन्नञ्च गव्यं दशगुणं पयः ।
तदेवमुष्णमेवोजः सामान्यादभिवर्धयेत् ।।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ।।

(च. सू.)

गाय का दुग्ध स्वाद में मधुर, शीतल, मुलायम (हल्का), स्निग्ध, बहुगुणकर, श्लक्ष्ण, पिच्छल, गुरु, मन्द और प्रसन्नताकारक या स्वच्छ ऐसे दश गुणों वाला होता है तथा उसे तत्काल निकालकर उष्ण (धारोष्ण) रूप में पीने से ओज (रसादि शुक्रान्तधातु तेज) की वृद्धि करता है एवं जीवनीय गुणवर्धक पेयों में यह दुग्ध प्रवर (सर्वश्रेष्ठ) है तथा रसायन है ।

धारोष्णदुग्धगुणाः

"भवेद्गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपम्" (वाग्भट)

दुग्ध को अधिक उबाल लेने से वह पचने में भारी हो जाता है । वास्तव में धारोष्ण दुग्ध अमृत के समान गुणकारी होता है ।

अमृततुल्यं दुग्धम्

व्याध्योषधाध्वभाष्यस्त्रीलंघनातपकर्मभिः ।
क्षीणे वृद्धे बाले च पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ।।

रोग, अधिक औषध सेवन, मार्गगमन, अधिक भाषण, ज्यादा स्त्री संग, लंघन और धूप में कार्य करने से बलक्षीण हुए पुरुषों के लिए तथा वृद्ध एवं बालकों के लिए दुग्ध अमृत के समान पथ्य (हितकर) है ।

अपेयं क्षीरम्

अनिष्टगन्धमम्लञ्च विवर्णं विरसं च यत् ।
वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् ।।

जिसमें खराब गन्ध आती हो, जो स्वाद में खट्टा हो गया हो, जिसका स्वरूप विकृत हो तथा नीरस, नमकीन तथा जिसमें छोटी-छोटी गांठे पड़ गई हो उसे किसी भी कार्य या पीने के लिए वर्जित कर दें।

प्रायः दुग्ध को सभी ने पूर्ण आहार स्वीकृत किया है। बच्चों की पाचकाग्नि मन्द होने से उनके लिए तो यह अमृत समान गुणकारी है तथा बड़ों के लिए भी सर्वधातुओं की क्षति का पूरक होने से अत्यन्त लाभदायी है। इसके प्रतनक में प्रायः आवश्यकीय सर्वप्रकार के अमीनो अम्ल विद्यमान रहते हैं तथा अन्य कार्बोज, लवण, वसा, विटामिन्स एवं जल रहते हैं। इसी दृष्टि से लोगों ने दुग्ध को पूर्णाहार की संज्ञा दी है। कितने ही जन तथा मुनि महात्मा दुग्ध पर ही जीवित रहते हैं। स्त्री दुग्ध में दुग्ध शर्करा अधिक होती है। आजकल सोयाबीन तथा मूंगफली से बनावटी दुग्ध बनाने लगे हैं तथा इसे दही के रूप में भी परिवर्तित कर देते हैं। वर्तमान में बाजार में जो दुग्ध बिकता है उसे बिना ठीक उबाले पीना नहीं चाहिए। उसमें अनेक प्रकार के जीवाणु मिल जाते हैं, अतः उसे उबालकर पीना चाहिए। अधिक उबालने से उसमें के विटामीन आदि तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। धारोष्ण दुग्ध में जीवनीय तत्त्व अधिक होते हैं।

विकृतदुग्धपाने दोषाः

खराब दुग्ध से अग्नि मन्द हो जाती है तथा अतिसार, वमन आध्मान, शरीर पर पिडिकाएं एवं मुखपाक आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार दूषित दुग्ध से विसूचिका (हैजा), राजयक्ष्मा एवं आन्त्रिक ज्वर आदि संक्रमणजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से दुग्ध के विषय में निम्न सावधानियां रखनी चाहिए।

दुग्धविषये सतर्कता

१. बीमार गाय तथा जिसके स्तनों में क्षत हो गये हों एवं सद्यःप्रसूता गौ का दुग्ध न लें।

२. मृत्तिका, राख, जल आदि से शुद्ध किये हुए पात्र में दुग्धदोहन करना चाहिए।

३. भूमि पर बिना ढके हुए पात्र में दुग्ध न रखें। क्योंकि ऐसी स्थिति में दुग्ध में धूलि, घास, कचरा तथा जीवाणु मिलने का भय रहता है।

४. ताम्र, यशद, सीसे के पात्रों में भी दुग्ध न रखें ऐसे पात्रों में दुग्ध रखने से दुग्धाम्ल से इन पात्रों में रासायनिक परिवर्तन हो सकता है।

५. दोग्धा स्वयं अपने हाथ अच्छी प्रकार से धो ले तथा गाय, भैंस बकरी

के स्तनों को भी अच्छे पानी से धोकर दोहन करना चाहिए। दोग्धा किसी रोग से पीड़ित न हो तथा साफ सुथरे कपड़े पहना हो एवं दोनों हाथ भलीभाँति धोके दुहे। पशुओं के बन्धन स्थान भी खुली हवा में तथा सूर्य प्रकाश प्रवेश करता हो वैसी जगह रखें तथा उन्हें शुद्ध जल, अच्छा पौष्टिक खाद्य (कपास्या, खली, एवं गवारफली) दें। दुग्धपात्र के मुख पर स्वच्छ कपड़ा बाँध के उस पर दोहन करें, अथवा दुग्ध निकालने पर उसे स्वच्छ वस्त्र से छान लें।

नगरसभा के अधिकारी भी रोगी गाय, भैंसों के तथा दूषित दुग्ध के विक्रय पर पाबन्दी लगा दें। दुग्ध को मक्खियों से बचाने के लिए उसे खुले पात्र में न रखें।

दुग्ध बेचने वाले दुग्ध में पानी मिला देते हैं अतः उनके दुग्ध की परीक्षा दुग्धपरीक्षक यन्त्र (लेक्टोमीटर) से कर लेनी चाहिए। आजकल लोग दुग्ध का खोवा (मावा) बनाकर भी पानी मिलावट का पता लगा लेते हैं। दुग्ध को उबालकर सुरक्षित रख दें। उबालने से दुग्ध के जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं जिससे उसमें अम्लता नहीं आती है तथा यह फटता भी नहीं हैं। माल्टारोग से पीड़ित पशु के दुग्ध के सेवन करने से मनुष्यों में भी माल्टा रोग हो जाता है। जब भी रखे हुए दुग्ध को पुनः काम में लेना हो तब उसे गरम करके व्यवहृत करें।

दुग्ध के भेद—स्त्री दुग्ध, गोदुग्ध, भैंस का दुग्ध, बकरी का दुग्ध, भेड़ का दुग्ध तथा ऊँटनी का दुग्ध, गदही (गर्दभी) का दुग्ध तथा हथिनी का दुग्ध, शेरनी का दुग्ध ऐसे प्रकृति ने जीवित प्राणियों में दुग्ध व्यवस्था कर रखी है। बच्चों के लिए माता का दुग्ध ही सर्वोपयोगी तथा उत्तम होता है।

दुग्ध का संरक्षण—१. दुग्ध को एक दो उफान आने तक उबाल के रखने से उसमें मिले हुए जीवाणु नष्ट हो जाते हैं तथा वह फटता भी नहीं है। यद्यपि दुग्ध को उबालने से उसके विटामिन्स नष्ट हो जाते हैं किन्तु स्वास्थ्य के लिए उबालना हितकर है।

२. पाश्च्युरीकरण—यह विधि डेरीफार्मस् (दुग्धशालाओं) में प्रयुक्त होती है, जहाँ कि दुग्ध को बेचने के लिए बोतलों में भरा जाता है। इसमें दुग्ध को निश्चित तापक्रम पर उबालकर तुरन्त ठंडा कर लेते हैं। इससे दुग्ध के एञ्जाइम नष्ट नहीं होते हैं तथा स्वाद में भी फर्क नहीं आता है। इससे दुग्ध में अम्लता नहीं आती है तथा वह जमता भी नहीं है अर्थात् तरल बना रहता है।

दधिसेवन—प्रातः भोजन के साथ दधि का सेवन करना उचित है। घी और शर्करा के बिना तथा मूंग के दाल के बिना एवं बिना शहद मिलाये दही नहीं खाना चाहिए। गरम दही खाना भी वर्जित है। आमलों के चूर्ण डाले बिना भी दही नहीं

खावें। नित्य दही खाना भी रक्तपित्त का प्रकोपक है। बिना ठीक जमा हुआ एवं वसन्त, ग्रीष्म और शरत् ऋतुओं में भी दही नहीं खाना चाहिए।

विधिवर्जितदधिसेवन दोष—शास्त्र के नियमों का भङ्ग कर सर्वदा दधि सेवन करते रहने से ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डुरोग, भ्रम और भयङ्कर कामला रोग उत्पन्न होता है।

दधि के दीव्यगुण—दही उष्ण माना गया है अत: पित्त का प्रकोप करता है। दही अभिष्यन्दी होने से स्रोतसों का अवरोध कर कफ को बढ़ाता है। दही के उष्णस्वभाव को नष्ट करने के लिए उसमें थोड़ा सा पानी डालके घोला बना लेवें जिससे शीत होकर पित्त का प्रकोप नहीं करेगा। दही अभिष्यन्दी होने से कफवर्धक माना गया है अत: दही में लवण, जीरा और काली मरिचों का थोड़ा सा चूर्ण डालकर सेवन करना चाहिए। दहि के अन्दर लेक्टिक एसिड रहता है जिससे आन्त्र में मल की सड़न से उत्पन्न होने वाले जीवाणु तथा गैस का विनाश होता रहता है। इस दृष्टि से डाक्टर मेचनी कॉफ ने दधि सेवन से आन्त्र विशुद्ध रहकर दीर्घजीवन प्राप्त होने का स्वमत प्रगट किया है। लेक्टिक अम्ल तैयार करने वाले जीवाणुओं की क्रिया दूध पर होने से दही बनता है। इस अम्ल के कारण दूध के मेद और प्रोटीन जम जाते हैं और दही बनता है। पौष्टिकता की दृष्टि से दुग्ध के सर्व उपादान दही में मिलते हैं। केवल दुग्ध शर्करा के स्थान में दुग्धाम्ल तथा दुग्धाम्लजनक जीवाणु होते हैं। दही में होने वाले क्षीराम्ल जीवाणु अन्य रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करते हैं अत: दुग्ध की अपेक्षा दही से रोगोत्पन्न होने की कम सम्भावना रहती है। दही में विद्यमान लेक्टिक अम्ल पांच घण्टे में विसूचिका के जीवाणुओं का नाश कर देता है। दैनिक आहार में दही का सेवन अत्यावश्यक है। दही अनेक रोगों से तथा वृद्धावस्था से शरीर की रक्षा करता है। अकाल वृद्धावस्था उत्पन्न होने का प्रधान कारण आन्त्र में उत्पन्न होने वाले जीवाणु तथा उनका विष माना जाता है। दधि सेवन से इन जीवाणुओं का तथा उनके विष का नाश हो जाता है। पचन संस्थान के अनेक विकारों में दही अत्यधिक लाभकारी है। विशेषतया संग्रहणी रोग में तथा मन्दाग्नि में दही का कल्प कराया जाता है।

दधि के सुश्रुतोक्तगुण—दही मधुर, अम्ल और अत्यधिक अम्ल ऐसे तीन प्रकार का है। वह अनुरस में कषाय, स्निग्ध और उष्णवीर्य है तथा पीनस, विषमज्वर, अतिसार, अरोचक, मूत्रकृच्छ्र और शरीर की कृशता को नष्ट करता है एवं शुक्र तथा प्राणशक्ति की वृद्धि करता है तथा माङ्गलिक कार्यों में उपयोगी है। मधुर दही अभिष्यन्दी, कफ तथा मेदोधातु का वर्धक है। अम्ल दही कफ और पित्त

को बढ़ाता है। अत्यधिक खट्टा दही रक्त को दूषित करता है। अधिक न जमा हुआ दही शरीर से मलमूत्र का उत्सर्ग ठीक प्रकार से करता है तथा त्रिदोष प्रकोपक माना गया है।

गौ का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, दीपन, बलवर्धक, वातनाशक, पवित्र और रुचिकर होता है।

भैंस का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात और पित्त का शामक, कफकारक एवं विशेषतया स्निग्ध होने से बलवर्धक होता है।

बकरी का दही—कफपित्तनाशक, हलका, वात और क्षयनाशक, अर्श, श्वास, कास और क्षय का नाशक तथा पाचकाग्निवर्धक होता है। शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओं में दही पित्त का प्रकोपक होता है। हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतुओं में दही का सेवन प्रशस्त होता है।

तक्रादिपरिचयः

तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्विदर्धवारिकम्।
छच्छिका सारहीना स्यात् स्वच्छा प्रचुरवारिका।।

दही में आधा पानी डाल के मन्थन कर मक्खन निकाल लेने के पश्चात् जो न बहुत गाढ़ा और न पतला हो और रस में जो मधुर अम्ल एवं कषाय हो उसे तक्र कहते हैं। मतान्तर से दही में चौथाई पानी डालकर जो घोल बनता है उसे तक्र तथा आधा पानी मिला के मथकर जो घोल बनता है उसे उदश्वित् कहते हैं। मक्खन निकाल लेने के पश्चात् जो साररहित भाग है उसे छाछ कहते हैं। इसमें पानी खूब मिलाते हैं।

तक्रगुणाः–तक्र रस में मधुर तथा अम्ल, अनुरस में कषाय, उष्ण वीर्य, पाचन में हलकी तथा जठराग्नि की दीपक होती है। तक्र सेवन से कृत्रिम विष, शोथ, अतिसार, संग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श, प्लीहोदर, गुल्म, अरुचि, विषमज्वर, तृषा, वमन, जी मिचलाना, शूल, मेदोवृद्धि एवं कफ और वात के रोग नष्ट होते हैं। तक्र विपाक में मधुर और हृद्य होती है तथा मूत्रकृच्छ्र एवं अधिक स्निग्ध पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियों की नाशक है। अर्श तथा संग्रहणीरोग में अमृत के समान है। सदा तक्र का सेवन करने वाला व्यक्ति कभी भी किसी रोग से पीड़ित नहीं होता है। तक्र सेवन से जो रोग नष्ट हो जाते हैं वे पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस प्रकार देवताओं के लिए स्वर्ग या वैकुण्ठ में अमृत हितकारी होता है उसी प्रकार भूलोक में मनुष्यों के लिए तक्र अमृत के समान गुणकारी है।

दोषानुसार तक्रसेवन—वात का प्रकोप हो अथवा उदर में वातगुल्म (गैस सञ्चय) हो तो तक्र में सैन्धव लवण तथा जीराचूर्ण डालके भोजनोपरान्त अथवा जब भी वात प्रकोप हो तब पीवें। पित्त का प्रकोप अर्थात् उदर में दाह वगैरा हो तब तक्र में शर्करा मिला के उसे स्वादु बना कर पीवें और यदि कफ का प्रकोप हो तो व्योष (सोंठ, मरिच, पिपल) का चूर्ण तथा क्षार (यवक्षार, स्वर्जिका क्षार= सोडा बाईकार्बन) डालकर पीवें।

तक्र निषेध—क्षत (व्रण) के रोगी में, ग्रीष्मकाल में, दुर्बल व्यक्ति में तथा मूर्च्छा, भ्रम और दाह के रोगों में एवं रक्तपित्त रोग (शरीर में कहीं से भी रक्त स्राव होता हो) में तक्र निषिद्ध है। शीतकाल, अग्निमान्द्य, कफजन्य रोग, स्रोतसों के अवरोध में एवं वायु की दुष्टि में तक्र प्रशस्त मानी गई है।

प्राय: मधुर तक्र कफप्रकोपक और पित्तशामक होती है। खट्टी तक्र वातनाशक एवं पित्तवर्धक होती है। इस तरह स्वास्थ्य के संरक्षणार्थ तथा अर्श, ग्रहणी विकार और मन्दाग्नि रोगों में तक्र अमृत के समान गुण करती है। तक्र से आन्त्र विशुद्ध रहती है। आन्त्र के अंनेक जीवाणु तथा उनका विष नष्ट होकर अनेक वर्षों तक आन्त्र कार्यक्षम बनी रहती है जिससे वृद्धावस्था शीघ्र नहीं आती है। चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य के पांव में जब कुश गड़ गये थे तब वह कुशों को उखाड़ के उनकी जड़ों में छाछ डाल रहा था। इसका तात्पर्य यह है कि तक्र रोगों को जड़मूल से उखाड़ फेंकती है अत: इसे भूलोक का अमृत माना गया है।

नवनीत (मक्खन)—स्वास्थ्य के संरक्षणार्थ तथा शरीर की बलवृद्धि के लिए नवनीत का अत्यन्त महत्त्व है। खाद्य द्रव्यों में किंवा स्निग्ध द्रव्यों में मक्खन सबसे हलका पदार्थ है तथा उसका सम्पूर्ण पचन और शोषण आँत में हो जाता है। इसमें स्नेहांश ७८ से ९४ प्रतिशत, जलीयांश १२ से १५ प्रतिशत, प्रोटीन का अंश १ से ३ प्रतिशत तथा शेष स्वल्प प्रमाण में खनिज पदार्थ (फास्फेट आदि) रहते हैं तथा दुग्ध के जीवद्रव्य (विटामिन्स) विशेषतया ए. इसमें होते हैं। नवनीत गुण–ताजा मक्खन क्षय (टी.बी.), शरीर की कृशता, अग्निमांद्य, नेत्ररोग, शिरोरोग, रक्तपित्त, शोष में लाभकारी है। इससे शरीर की सुकुमारता बढ़ती है। यह संग्राही (मल आदि का अवरोधक) तथा इन्द्रियादिकों का प्रसादक है।

मक्खन विशेषकर बालक, वृद्ध तथा छोटे-छोटे बच्चों के लिए अमृत के समान हितकारी है। पाश्चात्य देशों में मक्खन खाने का बहुत रिवाज है। वे बहुधा उबल रोटी पर मक्खन चुपड़ के खाते हैं। वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षित मक्खन कई मास तक नहीं बिगड़ता है। मक्खन को पानी में रखने से या उसमें नमक डाल के रखने

से वह नहीं बिगड़ता है। भारतीय अधिकतर निर्धन हैं अतः भोजन की इतनी आवश्यकीय और शरीर स्वास्थ्य की संरक्षक वस्तु का उपयोग नहीं कर सकते हैं परन्तु मक्खन अमृत समान हितकारी होने ही से भगवान् श्रीकृष्ण इसे चुरा कर खुद खाते तथा अपने साथी बच्चों को भी खिलाते थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि बच्चों के जीवनोपयोगी इस वस्तु को भगवान् ने जिस के भी घर में पाया स्नेह से, युक्ति से या बल से खाया एवं खिलाया और इस तरह साम्यवाद का परिचय दिया था।

घृत वर्णन—सर्व स्नेहों में उत्तम स्नेह घृत है तथा यह शीतल, आयु का स्थापक, विधिपूर्वक सेवन करने से हजार गुणा वीर्य वाला तथा हजारों काम वाला है। "आयुर्वै घृतम्" घी आयुष्य वृद्धि में उत्तम लाभकारी है।

आचार्य सुश्रुत लिखते हैं कि घृत मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, अल्प अभिष्यन्दी, शरीर में स्नेहन कार्य करने वाला है तथा उदावर्त (ऊपर को मलादिकों का आगमन), उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह (पेट का अफारा), वात तथा पित्त के रोगों को नष्ट करता है, पाचकाग्नि को प्रदीप्त करता है। घृत स्मरणशक्ति, मति, मेधा (धारणा शक्ति), कान्ति, स्वर, लावण्य, सौकुमार्य, ओज, तेज और बल को बढ़ाता है तथा आयु का वर्धक, वृष्य, मेध्य, वयःस्थापक, गुरु, नेत्रों के लिए हितकारी, कफ का वर्धक, पाप और अलक्ष्मी का नाशक, विषनाशक एवं राक्षसों के भय को दूर करने वाला है।

घृत तथा दुग्ध सेवन करने की जिनको अधिक सुविधा हो उन्हें चाहिये कि वे प्रतिदिन कुछ शारीरिक मेहनत या व्यायाम करते रहें क्योंकि स्निग्ध वस्तु का ठीक तरह से पाचन होकर उत्तम रस तैयार हो और उससे अच्छा रक्त बनकर शरीर के समस्त अङ्गों का पोषण और संरक्षण होता रहे।

भोजन में जो घृत प्रयुक्त होता हो उसे तपाकर कार्य में लेना चाहिए। अधिकतर तप्त घृत को दाल में छोंकके डालकर प्रतिदिन सेवन करने से वह घृत भलीभांति पच जाता है।

गोघृतगुण—जो व्यक्ति बुद्धिजीवी हों उन्हें गाय का घी शुद्ध मिल जाय तो वह अधिक गुणकारी होता है। सदा बुद्धि निर्मल रहती है। मस्तिष्कज्ञानतन्तु गोघृत से पुष्ट होते हैं। शरीर में स्वाभाविक रूप से अथवा शरीर में होने वाली विविध क्रियाओं से जो विष बनते रहते हैं उनका घृत से संशमन होता है। गोघृत नेत्रों के लिए भी अत्यधिक लाभकारी होता है। यह विपाक में मधुर, शीतल, वात, पित्त और विषनाशक होता है।

महीषीघृतगुणः—भैंस का घी मधुर, रक्तपित्त नाशक, पचने में भारी, कफकारक, वात और पित्त का शामक तथा शीतल होता है। शारीरिक श्रम करने वालों के लिए भैंस का घी सेवन में उत्तम माना गया है। इससे मांस तथा शुक्र की वृद्धि होती है।

अजाघृतगुण—यह अग्निदीपक, नेत्रहितकारी, बलवर्धक तथा राजयक्ष्मा, कास और श्वास के रोगियों के लिए अधिक गुणकारक होता है। यह पचने में भी हल्का होता है। कच्चे दुग्ध से निकाले हुए मक्खन से बनाया हुआ घी संग्राही होता है तथा रक्तपित्त, भ्रम, मूर्च्छा और नेत्ररोग नष्ट करता है।

सर्पिर्मण्ड—बतरन में जमे हुए घी के ऊपर जो पतला तथा स्वच्छ घी रहता है उसे सर्पिर्मण्ड कहते हैं। यह मधुर, मृदु रेचक, योनि, कर्ण, नेत्र और शिर के शूल का विनाशक होता है तथा वस्ति, नस्य और नेत्रों के पूरण करने में श्रेष्ठ माना गया है।

पुराणघृत वर्णन—पुराने घी के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों का मत है कि एक वर्ष के पश्चात् का घृत पुरान घृत कहलाता है—**''वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणम्''** (भावप्रकाश)।

योगरत्नाकर का मत है कि दश वर्ष स्थित घृत पुरान घृत कहलाता है—**''सर्पिः पुराणं विज्ञेयं दशवर्षस्थितन्तु यत्''।**

अरुणदत्त लिखते हैं कि बहुकाल का अर्थात् पन्द्रह वर्ष का स्थित घी पुरान घृत कहलाता है—**''पुराणमिति च बहुकालं पञ्चदशादिवर्षस्थितम्''** कुछ लोग दश वर्ष पुराने घृत को कुम्भसर्पि मानते हैं—**''कौम्भं दशाब्दिकम्''** (चक्रपाणिदत्त-चरकटीका)।

कौम्भघृतवर्णन—योगरत्नाकर ने एक सौ वर्ष तक रखे हुए घृत को पुरान घृत माना है—''शतवर्षस्थितं यत्तु कुम्भसर्पिस्तदुच्यते''।

आचार्य सुश्रुत लिखते हैं कि एकादश वर्ष से लेकर एक सौ वर्ष तक रखे हुए घी को पुरान घृत कहना चाहिए तथा इसे कुम्भघृत कहते हैं और यह राक्षसों (जीवाणुओं) का नाशक होता है।

महाघृतवर्णन—एक सौ वर्ष से ऊपर के घृत को महाघृत कहते हैं। यह महाघृत वातप्रकृति मनुष्यों के लिए पीने को श्रेष्ठ माना गया है तथा यह कफनाशक, बलकारक, पवित्र और मेधाजनक है तथा विशेषतया तिमिर रोग को नष्ट करता है एवं प्रेतपिशाचादि सर्वभूतों की बाधा को दूर करता है। अतएव यह घृत अत्यधिक प्रशस्त है—

एकादशशतं चैव वत्सरानुषितं घृतम्।
रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम्।।
पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः।
बल्यं पवित्रं मेध्यञ्च विशेषात्तिमिरापहम्।।
सर्वभूतहरञ्चैव घृतमेतत् प्रशस्यते।।

पुराणघृतगुणाः—

पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत्।
मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्।।

साधारण पुराण घृत तिमिर रोग, श्वास, पीनस, ज्वर, कास, मूर्च्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रहदोष तथा अपस्मार को नष्ट करता है:—

प्राय: सभी विद्वान् इस बात पर एकमत रखते हैं कि घृत जितना भी अधिक पुराना होगा उतना ही अधिक लाभकारी होगा—

"यथा यथा जरां याति गुणवत् स्यात्तथा तथा"।

घृत के अनुभूत योग—(१) शरीर में कहीं भी दाह होता हो तो १-२ तोले घृत को शर्करा के साथ मिला के चटावें अथवा १-२ तोले घृत को मन्दोष्ण पाव भर मधुर दुग्ध में डाल के पिलावें तथा दाह के स्थान पर घृत का अभ्यङ्ग करें। ऐसा करने से थोड़ी देर के पश्चात् दाह में अल्पता प्रतीत होने लगेगी।

(२) रक्तपित्त—शरीर में कहीं से रक्त जाता हो दुग्ध में घृत डाल के पिलाने से रक्त बन्द होने में सहायक होगा।

(३) वात प्रकोप—के कारण कहीं भी वेदना हो वहां घृत लगा के अभ्यङ्ग करने से वेदना का शूल नष्ट होता है।

(४) उदरगत गैस सञ्चय होने पर एक कटोरी पें १-२ तोले घृत डालकर उष्ण करके उसमें ३ रत्ती हिङ्गु का चूर्ण डालकर चटा देने से पेट की गैस तथा आध्मान (अफारा) शान्त हो जायगा तथा अपानवायु छूट के पेट हल्का हो जायगा। आन्त्र की खुश्की भी मिट जायगी।

(५) नाक में खुश्की से मल के पर्त जम जाते हों तो तर्जनी अङ्गुली में घृत लगा के दोनों नासापुटों में स्नेहन करने से लाभ होगा।

घृताहुतिधूमगुण—घृत की शाकल्यों के साथ अग्नि में आहुति देने से जो धूम बन कर आसमान में व्याप्त होगा उससे वहां के अनेक विषैले रोगकारक जीवाणु नष्ट

होकर मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा होगी तथा श्वास, कास और क्षय जैसे रोगों की उत्पत्ति रुक जायगी तथा अनेक मनुष्यों के स्वास्थ्य में पर्याप्त लाभ पहुँचेगा एवं यज्ञधूम से आत्मा, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं, इनके अतिरिक्त इस धूम के बादल बनने से सुवर्षा भी होगी। जब से भारत में कसाईखाने अधिक बन के दुग्ध देने वाले जानवरों का विनाश अधिक होने लगा है तब से उत्तम घी दुग्ध का अभाव हो गया है एवं वेजिटेबिल (वनस्पति) घी ने शुद्ध घी का स्थान ले लिया है तभी से भारतीयों को अनेक प्रकार के रोग होने लगे हैं तथा इनकी औसतन आयु में भी अत्यधिक न्यूनता आ गई है। अत: दुग्ध देने वाले उत्तम प्रकार के जानवरों की वृद्धि, उनकी रक्षा तथा सामूहिक रूप में उनके उत्तम तथा विशुद्ध (मिलावट रहित) घृत दुग्ध को आम जनता में वितरित करना आदि प्रबन्ध जब तक व्यवस्थितरूप से नहीं होगा तब तक भारतीय दीर्घायुष्ययुक्त एवं संकट रहित नहीं हो सकते हैं।

तैलप्रकरण—प्रकृति ने विभिन्न प्रकृति (स्वभाव) वाले पुरुषों के लिए नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण किया है। एक वस्तु जिस व्यक्ति के लिये हितकारी हो सकती है वही वस्तु अन्य के लिए अहितकर हो सकती है अतएव उसके अनुरूप गुण वाली वस्तु होना आवश्यक है। स्निग्ध पदार्थों में वर्णित घृत सौम्य, मधुर और शीतल होने से कफप्रकृति वालों के लिए हितकारी नहीं हो सकता है अत: उनके लिये स्निग्ध वर्ग में तैल का निर्माण किया है। वात तथा कफ की प्रकृति वालों के लिये तैल प्रशस्त माना गया है।

तैलगुण—वास्तव में तिलों से निकलने वाले स्नेह को तैल कहा जाना चाहिए तथा अन्य अन्य बीजों के स्निग्ध द्रव भाग को स्नेह कहना चाहिए किन्तु अभ्यास में सभी स्नेह तैल के नाम से ख्यात हो गये हैं, केवल तैल शब्द के पूर्व उस वस्तु का नाम लगा देते हैं। तिलों का तैल आग्नेय (उष्ण प्रकृति वाला), तीक्ष्ण, मधुर, मधुर विपाकी, बलवर्धक, इन्द्रियों का तर्पक, व्यवायि (शीघ्र शरीर में फेलने वाला), सूक्ष्म, विशद, पचने में भारी, दस्तावर, विकासी, वृष्य, त्वचा को प्रसन्न करने वाला, स्रोतसों का शोधक, मेधा, मृदुता, मांस स्थिरता, शरीर वर्ण और बल को उत्पन्न करता है, नेत्रों के लिए हितकारी, मूत्रावरोधक, शरीर के दोषों का लेखक, अनुरस में तिक्त और कषाय, पाचक, वात और कफ रोग का नाशक, क्रिमिनाशक, शीतपित्तहर, योनि, शिर और कर्ण के शूल का हारक एवं गर्भाशय शोधक होता है। अनेक प्रकार के भग्न रोग, क्षार तथा अग्निदग्ध रोगहर एवं परिषेक (सिञ्चन), अभ्यङ्ग एवं अवगाहन के लिये तिलतैल प्रशस्त माना गया है। बस्तिकर्म, स्नेहपान, नस्य, कर्ण और नेत्र के पूरण, अनेक प्रकार के खाद्य तथा पेयों के संस्कार तथा वातरोग शान्ति के लिये तिलतैल प्रशस्त होता है। इस तरह तिलतैल जीवन के अनेक कार्यों

में व्यवहृत होता है। विविध प्रकार के आचारों में तिलतैल का प्रयोग होता है। निर्धन भारत की अधिकांश जनता रातदिन तिलतैल का विविधरूप से प्रयोग करती है। शिर के अनेक प्रकार के तैल तिलतैल से बनाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश के लोग अधिकतर सरसों का तैल, मद्रास के व दक्षिण प्रान्त की जनता खोपरे (नारियल) का तैल तथा गुजरात और काठियावाड़ की जनता मूंगफली (सीङ्गदाने) के तैल का खाद्य पेयों में प्रयोग करती है। राजस्थान की जनता तिल तैल का प्रचुर प्रयोग करती है। इस तरह भारतीय जनता अपने अपने प्रान्त में अपने अपने स्वभाव और अभ्यास के अनुसार तिलतैल, सार्षपतैल, नारियल तैल और मूंगफलीतैल का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करती है। व्यापारी लोग लोभवशीभूत हो के इन तैलों में भी अनेक प्रकार के स्नेह जो सस्ते पड़ते हों मिला के इन तैलों का व्यापार करते हैं। उन्हें जनता के स्वास्थ्य रक्षण की चिन्ता के बजाय किस तरह जनस्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कर गर्हित रूप से धनोपार्जन करने की खोटी टेव पड़ गई है जिससे जनता का स्वास्थ्य बिगड़ता रहता है।

एरण्डतैल—मधुर, गरम, तीक्ष्ण, दीपन, शरीर के स्रोतसों में आये हुए या जमे हुए दोषों का विशोधक, योनिमार्ग और शुक्र का शोधन करने वाला, वात और कफरोगों का नाशक तथा शरीर के अधोभाग का संशोधक है। यह तैल विरेचन कार्य करके अधोभाग (बृहदन्त्र) में जमे हुए मल को स्निग्ध कर वहां से हटा के आन्त्र को शुद्ध करता है। इसका उपयोग बच्चों तथा सुकुमार प्रकृति के स्त्री पुरुषों के लिये एवं गर्भिणी तथा प्रसूता स्त्रियों के लिये उत्तम माना गया है। वृद्ध पुरुषों में विशेषतया वायु का प्रकोप होता रहता है अतः उन्हें प्रतिदिन अथवा सप्ताह में २-३ बार रात्रि में सोते समय गरम दुग्ध में १-२ तोले एरण्ड तैल मिला के पिलाने से मल खुलासा उतरता है। वायु शान्त होती है। आंते मुलायम रहती हैं। बच्चों की आंते अत्यन्त कोमल होती हैं। उन्हें तेज विरेचक औषधि देने से आन्त्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा बच्चों में कफ का प्रकोप भी होता रहता है अतः सप्ताह में १-२ बार १ छोटा चम्मच भर के यह तैल पिला देने से दस्त साफ हो जाती है तथा कफ प्रकोप भी शान्त हो जाता है।

गर्भिणी स्त्रियों के प्रसव के समय कुछ कष्ट हो सकता है अतः प्रसव के एक दो मास पूर्व से उन्हें सप्ताह में १-२ बार १-२ तोले भर एरण्ड तैल दुग्ध में डाल के पिलाते रहने से सुख प्रसव होता है। योनिमार्ग स्निग्ध तथा वात प्रकोप नहीं होने से प्रसव उत्तम होता है।

आमातिसार—जब यकृत् ठीक तरह से कार्य नहीं करता है तब पाचन में विकृति होने से आंतों में आमांश अधिक सञ्चित होने लगता है जिससे पेट में मरोड़

होके दस्तें लगती हैं। मल अल्प निकलता है। केवल कुन्थन (करांजना) हो के आम का अंश चिकना चिकना निकलता है ऐसी स्थिति में शुण्ठी के गरम उकाले (पानी) में अथवा मन्दोष्ण दुग्ध में किंवा चाय के कप में १-२ तोले एरण्ड तैल डालके पीने से सञ्चित आम का आसानी से निःसरण होकर शूल की शांति और पाचकाग्नि की दीप्ति हो जाती है। डाक्टरी में केस्टोर ऑयल इमल्शन दिया जाता है। आयुर्वेद में कुटजाष्टक क्वाथ में एरण्ड तैल डालकर दिन में २-३ बार पीने से भी उत्तम लाभ होता है।

वातव्याधि—शरीर में किसी भी अङ्ग का घात (लकवा) होने पर एरण्ड तैल का उस अङ्ग पर मर्दन करके सेकना तथा दशमूल के क्वाथ में एरण्ड तैल डाल के पिलाने से शरीर के ज्ञानतन्तुओं में शोथ अथवा उत्पन्न हुआ अवरोध नष्ट हो के रक्त परिभ्रमण उत्तम होकर कुछ दिनों में उत्तम फल प्राप्त होता है।

आमवात—प्रायः वृद्धावस्था में तथा युवावस्था में भी सन्धियों में आमदोष का सञ्चय हो कर वहां शूल, शोथ, लालिमा तथा सन्धिसंकोच और प्रसार में कष्ट, उठने-बैठने और चलने में वेदना होती है तथा वह पुरुष किसी भी कार्य में अशक्त हो जाता है।

चिकित्सा—एरण्ड का तैल इस रोग की उत्तम औषध है। शरीररूपी जङ्गल में विचरण करने वाले आमवातरूपी गजेन्द्र को नष्ट करने के लिये यह अकेला एरण्डस्नेहरूपी केसरी (सिंह) पर्याप्त है—

आमवातगजेन्द्राणां शरीरवनचारिणाम्।
एक एव निहन्ताऽयमेरण्डस्नेहकेसरी॥

इस एरण्ड तैल को केमिकल्स से शुद्ध कर के सुगन्धित औषधियों के कल्क और क्वाथ के साथ एवं आंवले के रस, भृङ्गराज के रस के साथ पकाके अनेक सुगन्धित केमिकल्स या इत्र या सेंट और रंग (कलर्स) मिलाके शिर के तैल बनाकर अनेक कम्पनियां प्रतिवर्ष हजारों बोतल बेचती हैं। इससे विदित होता है कि एरण्डस्नेह शरीर के शोधनार्थ, रोगनाशनार्थ, बालों के संरक्षणार्थ तथा अभ्यङ्ग, पान, बस्ति और आन्तरिक सेवनार्थ अनेक प्रकार से मानव के लिये एक महत्त्व का तैल है।

अन्य विविध तैल तथा वसाएँ—तिल, सरसों, और एरण्ड तैल के अतिरिक्त नारियल तथा मूंगफली के तैल भी अत्यन्त महत्त्व के हैं।

नारियल तैल—मद्रास किंवा समस्त दक्षिण प्रान्त निवासी नारियल के तैल

को खाने, पीने, देह में अभ्यङ्ग करने तथा शिर में लगाने के लिये खूब-प्रयुक्त करते हैं।

शिर में नारियलतैलगुण—प्राय: सर्वप्रान्तों की अधिकांश स्त्रियां अपने शिर के बालों में नारियल का तैल ही डालती हैं। कुछ लोग इसमें सुगन्धि इत्र, सेण्ट मिला के भी वापरते हैं। नारियल का तैल खाने में भी पौष्टिक है। यह क्षय, दौर्बल्यता आदि रोगों को दूर करता है।

मूंगफूलीतैलगुण—समस्त गुजरात तथा काठियावाड़ प्रान्त में मूंगफली के तैल का प्रयोग खाने में प्रचुरमात्रा में होता है। इस के अतिरिक्त राजस्थान तथा मालवे प्रान्त के लोग भी मूंगफली के तैल का तिलतैल की अपेक्षा अधिक प्रयोग करने लग गये हैं। मूंगफली के दाने सेक कर तथा उसकी नमकीन वस्तुएं बना के भी खाने के काम में प्रचुर प्रयोग होता है। फलाहारी वस्तु होने से अनेक उपवास या व्रत करने वाले लोग भी मूंगफली का बहुत प्रयोग करते हैं। मूंगफली अत्यधिक पौष्टिक वस्तु है। तैलनिकलने के पश्चात् जो इसकी खल निकलती है उसे गायें, भैंसे और बैलों को खिलाई जाती है जिससे उनमें बल की वृद्धि तथा दुधारु जानवरों में दुग्ध की तथा घृत की वृद्धि होती है। मूंगफली वायु और कफ का संशमन करती है किन्तु पित्त प्रकृति वालों के लिये ग्रीष्म ऋतु में तथा गरम प्रकृति वालों में इसका प्रयोग अल्प या नहीं करना चाहिए।

निम्बतैलगुण—चर्मरोगों में लगाने के लिये यह तैल उत्तम माना जाता है। रात्रि में शयन के समय मच्छर तथा खटमल काटने से विषमज्वर तथा आंत्रिक ज्वर (टॉयफॉइड) होने का भय बना रहता है। निर्धन मनुष्य मच्छरदानी तथा खटमलदानी लगा के शयन करने में अशक्त होते हैं ऐसी स्थिति में शयन करते समय हाथ-पैर तथा मुख आदि खुले अङ्गों पर निम्बतैल का हल्का हाथ फेर कर या अभ्यङ्ग करके शयन करने से मच्छर आदि के काटने का भय अल्प हो कर उक्त रोगों से बचाव होकर स्वास्थ्य संरक्षण में लाभ होता है।

बादाम का तैल—पौष्टिक तथा मस्तिष्क और नेत्र ज्योति बढ़ाने में हितकारी होता है। आंते भी मुलायम, बलवती तथा वातदुष्टि रहित होती हैं। मन्दोष्ण दुग्ध १० तोले में १ तोला बादाम का तैल डालकर पीने से स्वास्थ्य रक्षा एवं बलवृद्धि होती है।

विविध तैल वर्णन—ककडी, लौकी, (दुधी या आल), कूष्माण्ड, आदि के तैलों का खाने तथा शिर में लगाने को प्रयोग किया जाना चाहिए। ये तैल शीतल होने से मस्तिष्क की गरमी तथा शिर:शूल में लाभदायी होते हैं।

वसा, मेद और मज्जा—ऊँट, घोड़ा आदि ग्राम्य, महिषादि, आनूप (जलाधिक स्थानवासी) तथा मच्छली, मगर आदि जलीय प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा उष्ण, स्निग्ध और वातनाशक होती है। स्नेहवर्ग में घी, तैल, वसा, मेद और मज्जा पचन में उत्तरोत्तर भारी किन्तु वातनाशन के लिये श्रेष्ठ मानी गई हैं। स्नेहों की स्थावर (तिल, सर्षप, एरण्ड बीज) और जङ्गम (घोड़ा, ऊँट, शेर, सूकर) योनियों में जङ्गम प्राणियों के स्नेह प्राचीन काल की तरह वर्तमान काल में खाने के लिये तथा चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं। इनमें अधिकतर मच्छली का तैल (कॉडलिवर ऑयल) पौष्टिकता के लिये तथा क्षय की चिकित्सा में एवं शरीर की स्वाभाविक शक्ति या व्याधि प्रतीकार क्षमता को बढ़ाने में अत्यधिक प्रयुक्त हो रहा है। इस तैल में वसा (फैट) के अतिरिक्त देह की पुष्टि तथा रक्षार्थ अत्यावश्यकीय जीवनीय द्रव्य (विटामिन्स ए तथा डी) होते हैं। प्रायः जितने भी स्नेह द्रव्य हैं वे ग्लिस्रीन और फैटी एसिड्स के संयोग से बनते हैं। जिसमें निम्न श्रेणी के वसाम्ल (फैटी एसिड्स) होते हैं उसी श्रेणी के स्नेह की तैल संज्ञा है तथा जिसमें उच्च श्रेणी के वसाम्ल होते हैं उसे वसा कहते हैं।

मेद और मज्जा स्नेहभूयिष्ठ द्रव्य हैं। विशुद्ध स्नेह नहीं है तथा मांसाहार करने वालों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

शाकवर्ग तथा उसकी उपयोगिता—अनादिकाल से हरी शाक सब्जी का प्रयोग मानव करता आया है। यह हमारे भोजन का एक अभिन्न अंग हैं। भोजन के साथ शाकों का प्रयोग होने से शाकें भोजन को स्वादिष्ट बना देती हैं तथा भोजन के पाचन में शाकों से अधिक सहायता मिलती है।

शाकदोषः—जैन धर्म के अनुसार हरी शाक सब्जियों में तथा कन्दशाकों में भूमि दोष, जलजातदोष, वायुसंसर्गजात दोष तथा इन शाकों के पत्रों, पुष्पों आदि में अनेक दृश्य अथवा अदृश्य जीवाणुओं एवं दृश्य कृमियों का निवास होने से अनेक प्रकार के दोष आ जाते हैं अतएव जैनमुनियों ने प्रायः हरे शाक सब्जी तथा कन्द मूल रूप के शाकों को भोजन में प्रयुक्त करना निषेध किया है—**''शाकेषु सर्वेषु वसन्ति रोगाः''**। वर्षा ऋतु में तो एकदम हरी शाकें खाना तथा हरे घास पत्तियों पर चलना जैनधर्म में महान् दोष माना है अतएव जैनधर्मावलम्बी मुनि बरसात में एकस्थान पर रह के चातुर्मास करते हैं तथा हरी घास युक्त भूमि पर चलना एकदम वर्जित करते हैं।

शाकमहत्त्व—प्राचीन सनातन धर्म की दृष्टि से तथा आयुर्वेद की दृष्टि से एवं वर्तमान डॉक्टरी चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से जीवन के साथ शाकों का भोजन में प्रयोग करना अत्यन्त महत्त्व का प्रतिपादित किया है। वास्तव में अनेक दृष्टियों से जीवन शक्ति बनाये रखने के लिये शाकों का अत्यधिक महत्त्व है। जैसे लिखा है

कि सर्वशाकों में पटोल (परवल) या परोरा का शाक सर्वश्रेष्ठ है —"**पटोलशाकं शाकानाम्**"। इसी तरह से जीवन्ती के शाक का भी शास्त्रों में अत्यधिक महत्त्व है—"**जीवन्तीशाकं शाकानाम्**"।

शाकवर्गीकरण—शाकों के वर्गीकरण की दृष्टि से पुष्पशाक, पत्रशाक, फलशाक, नालशाक और कन्दशाक ऐसे पांच भेद किये गये हैं तथा ये शाकें उत्तरोत्तर एक दूसरे से पचने में भारी होती हैं—"पुष्पं पत्रं फलं नालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात्"।

पुष्पशाक—पुष्पशाकों में अगस्त्य के फूलों का शाक, घृतकुमारी की नाल (दण्डी) के ऊपर गुलाबी या लाल वर्ण का लंबा पुष्प निकलता है, जिसका शाक यकृद् वृद्धि तथा उदर रोगों के लिये उत्तम लाभ पहुंचाती है। बङ्गाली लोग कूष्माण्ड के फूलों की शाक बनाते हैं जो पित्त विकार में श्रेष्ट मानी जाती है।

पत्रशाकवर्णन—पत्रशाक के तो अनेक उदाहरण हैं, मेथी, पालक, बथुआ, सूआ, अफीम के पत्ते, चोलाई, मूली के पत्ते, गोभी (कोबीज) के पत्ते, कूल्फा, सरसों के पत्ते, चील के पत्ते, चक्रमर्द (चकवड़) के पत्ते, कोहले (कूष्माण्ड) के पत्ते आदि अनेक पत्रशाक होते हैं। मेथी के पत्तों का शाक वातरोगियों के लिये प्रशस्त है। पालक, सूआ, चौलाई के पत्ते, पुनर्नवा के पत्तों का शाक मूत्रल, वातनाशक, स्वल्प दस्तावर, अग्निवर्धक एवं जीवनीय द्रव्य सी. की न्यूनता से होने वाले रोग जैसे स्कर्वी (दन्तमांस से रक्तस्राव) में अच्छी गुणकारक है। मूली के पत्तों का शाक मूत्र आध्मान (पेट का आफरा), मूत्रकृच्छ, प्लीहावृद्धि, यकृद् वृद्धि की नाशक, रक्तवर्धक तथा रुचिजनक होती है।

फलशाकवर्णन—इसके भी अनेक उदाहरण हैं। विविध प्रकार के फलों का शाकों के रूप में बहुत प्रयोग होता है। करैले के फल या करैला शाक पित्तरोग नाशक, पटोलशाक ज्वरहर, तुण्डी (टिंडोरा) शाक स्वादिष्ट एवं रुचिकर होती हुई भी बुद्धिनाशक मानी गई है—"**सद्यः प्रज्ञाहरी तुण्डी सद्यः प्रज्ञाकरी वचा**"।

कच्चे केले की शाक के गुण—कच्चे केले के फलों की शाक विष्टम्भकारक (कब्जियत करने वाली) होने से अतिसार और संग्रहणी रोगों में श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी प्रकार छुहारे की शाक भी अतिसार और संग्रहणी में श्रेष्ठ है।

वार्ताकशाकगुण—बैंगन की शाक वायु तथा कफ रोगों को नष्ट करती है। कास श्वास वालों के लिये भी प्रशस्त है।

भिण्डी की शाक—मूत्रल तथा प्रमेह रोगों में उत्तम है एवं मधुर तथा चिकनी होने से बलवर्धक भी है। पित्त की गरमी को कम करती है किन्तु कफवर्धक है।

मूली की फलियों की शाक उदर रोग नाशक एवं पाचक है। गँवार की फलियों, चंवला की फलियों की शाक वातजनक होते हुए भी अत्यधिक स्वादिष्ट बनती है। गंवार की फलियां चिकनी होने से वीर्यवर्धक एवं पौष्टिक होती हैं। चंवलों की फली की शाक अत्यधिक रुचिजनक है। कच्ची केरी की शाक अत्यधिक अम्ल एवं कषाय होने से रुचिवर्धक होती हुई भी पित्त को बढ़ाती है तथा मल में विष्टम्भ करने से अर्शरोग को उत्पन्न करती है। अम्लपित्त को बढ़ाती है। दाहजनक भी है किन्तु कच्ची केरी को अग्नि में भून के भरता बना के रस निचोड़कर थोड़ा सा पानी और शर्करा, लवण, मिर्च और जीरा पीसा हुआ मिला के पीने से लू लगी हो तो उसमें अत्यधिक लाभ करती है।

बड़े गूंदों की शाक विष्टम्भकारक है किन्तु देहबल की वृद्धि करती है एवं पित्त और वात रोगों को नष्ट करती है।

कुष्माण्डफल तथा लोकी (आल या दूधी) की शाक तृषानाशक, दाहशामक, रक्तपित्त रोगहारक, उन्माद, अपस्मार और शिरोरोगों में प्रशस्त है। स्मरणशक्ति बढ़ाती है।

करीरफलशाक कषाय होने से कफनाशक किन्तु बिबन्धकारक होती है, पित्त को भी बढ़ाती है परन्तु रुचिजनक है।

ककड़ी, तर्बूज, खीरा, मतीरा आदि फलों की शाकें शीतल होने से दाहशामक, मूत्रकृच्छ्र निवारक एवं रुचिजनक हैं।

पनस या कटहल फल कूष्माण्ड के समान बहुत बड़ा फल होता है तथा पूर्व या उत्तर प्रदेश, बिहार और बङ्गाल में बहुत होता है। यह शाक अत्यन्त पौष्टिक है तथा वात और कफ के रोगों को नष्ट करती है। पनस के बीज ठंडे होते हैं।

शकरकन्द की शाक मधुर होने से पौष्टिक, रुचिकारक तथा पित्तरोगों में लाभ करती है। कुछ वातल भी है।

गाजर की शाक भी पौष्टिक है किन्तु कुछ कास रोग करती है।

नालशाक—कूष्माण्डनाल मधुर, पौष्टिक एवं रुचिजनक है। कमलनाल की शाक दाह, तृषा और पित्तरोगशामक है।

कन्दशाक—कन्द भी अनेक प्रकार के होते हैं—शकरकन्द, गाजर, मूली, कमलकन्द, सिंघाडे, आलू, अरबी, रक्तालू (रतालू) इत्यादि। ये शीतल, मधुर, अतिशय शुक्रवर्धक, दुग्धवर्धक होते हैं किन्तु पचने में भारी होते हैं।

सूरणकन्द की शाक प्रायः सर्व प्रान्तों में प्रचलित है तथा इस में घृत या तैल अधिक डाल के मसाले वगैरा प्रशस्त डाल के बनाने से बहुत स्वादिष्ट शाक बनती है। यह कन्द रक्त और बल को बढ़ाता है। वात तथा कफ के रोगों को नष्ट करता है एवं वातार्श तथा कफजन्य अर्श में बहुत लाभ करता है। रक्तार्श में हितकर कम है किन्तु उष्ण मिर्च मसाले स्वल्पडाल के घृत अधिक डालकर बनाने से रक्तार्श में भी उपयोगी है।

शाकों के डाक्टरी मत से गुण—यद्यपि शाकों में मेद, प्रोटीन आदि पुष्टिकारक भाग अत्यल्प होते हैं तथापि उनमें निम्न विशेषताएं होती हैं—

(१) इन शाकों में खनिज पदार्थ या लवण (साल्ट्स) अधिकमात्रा में होते हैं, इस लिये इनका सेवन विशेष लाभकारक होता है। ये क्षार प्रोटीन, मेद और कार्बोहैड्रेट्स के परिवर्तन से जो शरीर में अम्ल बनते हैं उनको निवीर्य करते हैं। शरीर की रक्षार्थ रक्त का क्षारीय (एल्केलाईन) होना अत्यावश्यक है। रक्त में क्षारीयता का अंश कम होने से अम्लरक्तता (एसिडोसिस) नामक रोग उत्पन्न होता है अतः शाक सेवन से रक्त की क्षारीयता बढ़ती है जिससे शरीर का रक्षण होता है।

(२) शाकों के ऊपर सेल्यूलोज़ नामक पदार्थ होता है, जिसे मनुष्य पचा नहीं सकते हैं और यह अपाचित सेल्यूलोज़ अन्त्र गति को बढ़ा देता है जिससे मल साफ उतरता है।

(३) शाकों में पोटेशियम के लक्षण होने से ये मूत्रल होती हैं जिससे मूत्र-संस्थान में उत्पन्न अश्मरी रोग नष्ट होता है।

(४) शाकों में स्कर्वी (दन्तमांसरक्तस्राव) प्रतिषेधक जीवद्रव्य होने से रक्तस्राव को रोकने में विशेषोपयोगी हैं।

(५) शाक भोजन में सुरुचि तथा सुगन्धी उत्पन्न करती हैं जिससे पाचक ग्रन्थियां उत्तेजित होके अधिक पाचक रसों का स्राव करती हैं और पाचन ठीक होता है।

(६) शाकों में कार्बोहाइड्रेट अत्यल्प होने से मधुमेह (डायबेटिज़) के रोगियों के लिये भी शाकें उत्तम पथ्य हैं। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि शरीर के लिये शाकों की बहुत आवश्यकता है तथा शाक सेवन से शरीर को जिन तत्त्वों की जरुरत

हैं वे तत्त्व शाकों से प्राप्त होते रहते हैं। शाकों में जल का भाग अधिक होता है। इनमें कुछ नाइट्रोजन युक्त पदार्थ भी होते हैं। इनमें वसा या फैट नहीं होती है अतएव इन्हें घृत या तैल के साथ भून कर सूखे अथवा जल डाल के रसदार बनाकर सेवन करें।

वर्जित शाक—जो शाक करडी पड़ गई हों, जो पुरानी; बासी या अधिक पक के पीली पड़ गई हों, जो कीड़ों से भक्षित, अधिक शीत अथवा अधिक उष्ण वायु से खराब हो गई हों, सूख गई हों तथा बिना मौसम में उगाई गई हो एवं घृत तैल आदि स्निग्ध पदार्थ से पकाई न हो अथवा इनका छोंक न दिया हो तथा जो शाक श्मशान, वल्मीक एवं जो अधिक गन्दगी युक्त स्थानों में उगी या उत्पन्न हुई हो उन्हें स्वास्थ्य संरक्षणार्थ तथा अनेक कृमि एवं जीवाणुजन्य रोगों से बचने की दृष्टि से सेवन करना उचित नहीं है। जिन लोगों को पतली दस्तें लग रही हों उनके लिये भी शाकें वर्जित हैं।

फलवर्ग—फलों में हरे ताजा तथा पके हुए और दूसरे शुष्क फल ऐसे दो विभाग प्रमुख हैं। हरे फलों का प्रयोग अधिकतर उनके स्वाद, सुगन्धी और उनमें विद्यमान लवणों के कारण किया जाता है। इनमें लवण (साल्ट्स) अधिक होने से भी ये जीवन, बलवर्धन तथा स्वास्थ्य संरक्षण के लिये अत्यावश्यक हैं। इन में जलीयांश अधिक होता है तथा अन्य उपयोगी पदार्थों की मात्रा भी होती हैं। इनमें कार्बोहाइड्रेट शर्करा के रूप में विद्यमान रहता है जो कि द्राक्ष शर्करा का प्रकार है। कुछ फलों में वसा और प्रोटीन भी उपलब्ध होती है। फलों में विटामिन्स (जीवद्रव्य) भी अधिक होते हैं जिससे ये फल रक्तस्राव (स्कर्वी) को विशेषकर नष्ट करते हैं जैसे निंबू, सन्तरे, (नारङ्गी) तथा मौसमी। शाकों के विटामिन्स पकाने से प्राय: नष्ट हो जाते हैं किन्तु फलों को बिना पकाये ही खाने से इनमें विद्यमान विटामिन्स का हमें पर्याप्त लाभ मिलता है। ये फल पाचनकार्य में अधिक लाभ करते हैं तथा रक्त में क्षारीयता उत्पन्न करने से भी हमारे जीवन एवं स्वास्थ्य संरक्षण तथा बलवर्धन के लिये उपयोगी हैं। भोजन की अल्पता की त्रुटि से जो हमारे शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें नष्ट करने अथवा रोकने के लिये फल अत्यधिक महत्त्व के हैं।

हरे या पके फलों में दाडिम (अनार), आंवला, बैर, कैथ, आम, करौंदा, चिरौंजी, नीबू, नारङ्गी, केला, अंगूर, सेव, कमरख, इमली, खरबूजा, ककड़ी, तरबूज आदि प्रमुख हैं।

अनार—रुचिवर्धक, रेचक, हृदय बलदायक तथा मल को बांधने वाला है। मधुर अनार त्रिदोषनाशक तथा खट्टा अनार वात और कफ को नष्ट करता है तथा पित्त को बढ़ाता है। अनार का प्रयोग स्वस्थ और अस्वस्थ उभय दशा में प्रचुर मात्रा में किया जाता है।

प्राय: जितने भी अम्ल (खट्टे) फल होते हैं वे पित्त के वर्धक, कफ को उखाड़ने वाले तथा वात के शामक होते हैं किन्तु इनमें जो मधुर फल होते हैं वे पित्तशामक, वातशामक तथा कफवर्धक होते हैं ऐसा विचार कर के दोषानुसार इनका प्रयोग करना चाहिए।

आंवला—अम्ल, मधुर, तिक्त, कषाय और कटु पञ्चरसयुक्त किन्तु लवण रस रहित होता है। यह त्रिदोषनाशक, वृष्य, हृद्य, नेत्रों के लिये हितकारी तथा विटामिन सी की इसमें अधिक मात्रा होनेसे स्कर्वी रोग को नष्ट करता है। विशेषतया शरीर में दाह, मूत्र में जलन और रक्तपित्त का नाशक है।

बैर—भारत में बहुत होते हैं, ये पित्त और कफ को बढ़ाते हैं, पक्व होने पर वायु और पित्त को नष्ट करते हैं, ये हल्के दस्तावर भी हैं। बैर विशेषकर तृषाशामक, रुचिकारक, अग्निदीपक और पाचक हैं। कासरोग में बैर नहीं खाना चाहिए।

कैथ—यह अम्ल होता है तथा चटनी में इसका बहुत प्रयोग होता है। यह कफ का नाशक, मल को बांधने वाला (ग्राही) तथा वातजनक है।

आम्र—यह फ़लों का राजा है तथा वैद्यों और कवियों ने इस का बहुत वर्णन किया है। भारत में प्राय: सर्वप्रान्तों में होता है। गरीब तथा अमीर सभी लोग इसका प्रयोग करते हैं। यह रुचिकारक, अग्निदीपक, बलवर्धक, रक्त, मांस और शुक्र को अधिक बढ़ाने वाला तथा वायु और कफ को नष्ट करता है। कच्चा आम अम्ल होने से पित्त का वर्धक तथा ग्राही होता है। पक्व आम्र दस्त को साफ लाने वाला तथा वात और कफ का शामक, पित्तशामक होता है। कच्चे की शाक, आचार, मुरब्बा, चटनी, अमचूर (सुखा के) और पके हुए को चूसने, चीर के खाने, अमरस बनाने और रस को जमा के आमावट बनाने में बहुत वपराता है। आम चूसने के पश्चात् दुग्ध पीना अथवा आम के रस में दुग्ध मिला के पीना अधिक श्रेष्ठ है। यह बच्चों, युवा, वृद्धों तथा स्त्रियों सभी के मनपसन्द की वस्तु है। गर्भवती स्त्रियां इसका प्रयोग अल्प करें क्योंकि अम्ल और उष्ण होने से क्वचित् रक्तस्राव करा के गर्भ को हानि पहुंचा सकता है किन्तु इसके सेवन के साथ दुग्ध और घी का प्रचुर प्रयोग करने से यह उनमें अमृत समान लाभदायी है। दुग्ध और घृत प्रयोग न करते हुए आम के खाने या अधिक चूसने के कुछ दिनों के पश्चात् चेहरे पर या शरीर के अन्य भागों पर फुन्सियां निकल आती हैं अत: अधिक आम का प्रयोग करो तो साथ में दुग्ध, घृत का प्रयोग करना ही चाहिए। कुछ लोगों में खूनी बवासीर भी हो जाता है अत: उसे न होने देने के लिये आम के साथ इसके रस में दुग्ध, घी और शर्करा मिला के प्रयोग करना श्रेष्ठ है।

निंबू—यह भी भारत में अधिक पैदा होता है। नगर तथा ग्राम सर्वत्र प्राप्त होता है। गरीब तथा निर्धन सभी को सुलभ है। इसका प्रयोग भी अनेक प्रकार से होता है। इसके रस को दाल तथा साग में डाल के सेवन करते हैं जिससे दाल साग अत्यधिक रुचिकर और पाचक बन जाती है। गरमी के दिनों में पानी के गिलास में निंबू को नीचोडकर शर्करा डाल के तथा मिल सके तो सोडा खाने का थोड़ा सा डालकर पेय बना लें। यह पेय अत्यन्त स्वादिष्ट तथा रुचिकर, वमन नाशक, तृप्तिकारक, आह्लादक, विविध दाहशामक एवं हृद्य होता है। कुछ लोग निंबू को कोरा या ऊपर लवण काली मरिच चूर्ण छिड़क के गरम करके अथवा ऐसे ही कोरा चूसते हैं। इसमें विटामिन सी की मात्रा पर्याप्त होती है अतएव दांतों के स्कर्वी आदि रोग, मन्दाग्नि, अम्लपित्त आदि नष्ट हो जाते हैं। निंबू में सायट्रिक अम्ल अधिक होता है तथा अन्य अम्ल भी पाये जाते हैं। इसमें कुछ शर्करा तथा प्रोटीन भी रहते हैं। जहां यह फल नहीं होता है तथा जिस ऋतु में यह प्राप्त नहीं होता है, उस समय के उपयोगार्थ इसके रस को सुरक्षित विधियों से रखा जाता है। इसका आचार बना के बारह मास रख सकते हैं तथा इसकी कमी की पूर्ति कर सकते हैं। इसके अम्ल को इसके अभाव में दाल सागों में डालके तथा शर्बत भी बना के सेवन करते हैं। निंबू वात और कफ रोगों को नष्ट करता है तथा इसके रस में शर्करा और पानी मिलाकर के पीने से पित्त का भी शमन होता है किन्तु कफ की वृद्धि होती है।

सन्तरा, मोसम्बी—ये भी इसी निंबू के वर्ग के हैं किन्तु गुणों में थोड़ा अन्तर है। निंबू का प्रयोग केवल दाल, साग, शर्बत के रूप में अधिक होता है, चूसने में बहुत कम, किन्तु इनको चूसते हैं एवं इन का रस निकाल के पिया जाता है। इनके रस से क्षुधा की कुछ शान्ति होती है। सन्तरा मधुर और अम्ल का सुन्दर गुणकारी संमेलन है किन्तु मोसम्बी प्राय: केवल मधुर रस प्रधान है। ये अत्यन्त स्वादु, सुगन्धित, हृद्य, दाह तथा तृषा और अरुचि, वमन, भ्रम (चक्कर) आदि रोगों के शामक हैं। स्वस्थ तथा रोगियों में एवं बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री एवं पुरुष सभी में इनका प्राचुर्येण प्रयोग होता है। इनमें शर्करा, खनिज लवण (साल्ट्स), अनेक प्रकार के सायट्रिक आदि अम्ल तथा विटामिन्स (विशेषतया सी) पाये जाते हैं। पाचन शक्ति जिनको दुर्बल हो, हृदय दुर्बल हो, अरुचि और वमन होता हो, शरीर में कहीं भी दाह हो, निद्रा न आती हो, चक्कर (भ्रम), मूर्च्छा, मदात्यय आदि रोगों में विशेष गुणकारी हैं। सांचे से इनका रस निकाल के छानकर भी पीया जाता है। इनका रस तुरन्त रक्त में मिल जाता है अतएव सभी के लिये तथा विशेषतया रोगियों के लिये तो ये अमृत समान हैं। शरीर के अनेक भागों के बल रक्षणार्थ, बलवर्धनार्थ, रोगप्रतिकारक शक्ति वृद्धि एवं देह की स्फूर्ति, कान्ति, स्मृति सभी की वृद्धि के लिये

इनका प्रयोग होता रहता है। दुग्ध पीने वाले छोटे-छोटे बच्चों को चुसाने या इनका रस १-२ चम्मच प्रतिदिन पिलाते रहने से उनमें पाचनशक्ति बढ़ती है, बल बढ़ता है, दांत आसानी से निकलते हैं, क्षुधा बढ़ती है। इस तरह ये फल अत्यन्त महत्त्व के हैं।

वर्जित फल—पुराने, कच्चे, ठंडे और उष्णता से संक्लिष्ट (खराब) हुए एवं कृमि तथा सर्पादि से दूषित, खराब भूमि तथा कुमौसम में लगे हुए और सड़े गले फल भक्षण में वर्जित हैं।

एरण्ड ककड़ी—के सेवन से पाचन शक्ति बढ़ती है तथा विबन्ध (कांस्टिपेशन) नष्ट होता है। यकृत्, प्लीहा के रोगों में अच्छा लाभ होता है।

शुष्कफल वर्णन—इनमें प्राय: शर्करा और वसा का भाग अधिक होने से शीतकाल में विशेषतया प्रयोग होता है। इनमें प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट्स, लवण, विटामिन्स तथा जल होता है। इनमें अधिकतर विटामीन बी होता है किन्तु ए और सी विटामिन्स नहीं होते हैं। शुष्क फलों में कार्बोहाइड्रेट्स अल्प होने के कारण मधुमेह के रोगियों में ये उत्तम होते हैं। बादाम, पिस्ता, अखरोट, चिलगोजा, नारियल, काजू, छुहारा, खजूर, मूंगफली आदि विविध प्रकार के शुष्कफल बलवृद्धि, रोगनिरोधक शक्तिवृद्धि एवं स्वास्थ्य संरक्षणार्थ विशेष उपयोगी हैं। इनका सेवन भोजन के पूर्व तथा मध्याह्न में भोजन के २-३ घण्टे पश्चात् करना चाहिए। इन्हें भलीभांति चबाना चाहिए।

वाताद (बादाम)—नेत्रों के लिये तथा मस्तिष्क की दुर्बलतानाशनार्थ हितकारी है। बादाम को रात्रि में पानी में भिंगो कर दूसरे दिन प्रात: सील पर या खरल में महीन पीस के घी शर्करा मिलाकर अथवा दुग्ध में डाल के पीना चाहिए अथवा पत्थर पर पानी के साथ घिस के पीवें। प्राय: उक्त फल उष्णस्वभाव के हैं अत: वात तथा कफ के रोगों को नष्ट करते हैं एवं पित्तप्रकृति के लोगों के लिये पित्त या उष्णता को बढ़ाते हैं अत: दुग्ध, घृत तथा शर्करा का साथ में सेवन करने से उक्त दोष नहीं होता है।

इक्षुविकार—भोजन के साथ इक्षु से बने गुड़ और शर्करा आदि का उपयोग करना चाहिए।

शर्करा—खांड़ तथा मिश्री ये उत्तरोत्तर शीतल होती हैं तथा स्निग्ध, मधुर, वृष्य, रक्तपित्त (रक्तस्राव) और तृष्णा शामक होती है। शर्करा से शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है तथा ताप और बल को भी शर्करा उत्पन्न करती है अत: शरीर के बल, शक्ति और ताप या उष्णता की उत्पत्ति के लिये भोजन में अथवा दुग्ध में या पानी में डाल

के थोड़ी बहुत शर्करा का उपयोग करना आवश्यक है। उष्ण प्रकृति वालों के लिये तथा उष्ण काल में शर्करा शीतलता और शान्ति प्रदान करती है। बाहर से थक कर आने पर तथा उष्णता में कार्य कर के घर लौटने पर पानी में शर्करा डाल के पीना उत्तम है। आजकल प्रत्येक नगर तथा ग्रामों में शर्करा की चासनी कर बनाये हुए विविध रङ्ग के पेय बाजारों में बिकते दिखाई देते हैं। विक्रेता काच के ग्लासों में थोड़ा पानी, बरफ और ये शरबत डाल के ग्राहकों को पिलाते हैं किन्तु इनकी शुद्धता, स्वच्छता और ताजापन में शंका ही है अतः स्वास्थ्य के संरक्षण की अपेक्षा रोग होने का भय ही बना रहता है अतः विचारशील व्यक्ति अपने स्वास्थ्य के रक्षणार्थ तथा निरुग्ण रहने के लिये एवं बल, शक्ति और शारीरिक आवश्यकता ताप की उत्पत्ति हेतु अपने घर पर ही शर्करा से शर्बत बना के सेवन करें तो बहुत श्रेष्ठ है।

गुड़—उष्ण स्वभाव का होता है तथा वायु को शान्त करता है। पुराना होने पर कफ को भी नष्ट करता है। पित्त की वृद्धि करता है एवं शरीर में बल तथा शक्ति पर्याप्त मात्रा में पैदा करता है। ताजा गुड़ कफ को बढ़ाता है अतः पुराना गुड़ अधिक श्रेष्ठ माना गया है। गुड़ से मूत्र और रक्त की शुद्धि होती है किन्तु जो बच्चे गुड़ ज्यादा खाते हैं उन्हें चमड़ी के रोग दाद, खुजली, फुन्सियां, पित्ती उछलना आदि एवं उदरकृमि रोग पैदा हो जाते हैं अतः गुड़ का अधिक प्रयोग वर्जित है। गुड़ उत्तम वृष्य माना गया है। गुड़ गरीब और अमीर सभी खाते हैं। पुराना गुड़ हृदय को बलवान् बनाता है तथा त्रिदोष शामक होता है। नया गुड़ कफ, कृमि, अग्निमान्द्य और चर्मरोग उत्पन्न करता है। अगर गुड़ को उतने ही घी के साथ मिलाके सेवन करें तो वह किसी प्रकार की शरीर हानि या रोगोत्पत्ति न करते हुए शरीर में बल, शक्ति और ताप बढ़ाता है।

मधु वर्णन—शर्करायुक्त लेह्य द्रव्य पदार्थ है जिसे मधुमक्खियां नाना जाति के पुष्पों की मीठास वाले रस को चूस कर अपने छत्तों में एकत्रित करती हैं। मधु में द्राक्षशर्करा अधिक राशि ७५% में होती है। इसके अतिरिक्त इक्षुशर्करा, सव्युलोज, गोंद, मोम, रञ्जन द्रव्य, सुगन्धित द्रव्य, लोह, चूना, फास्फोरस, जीवनीय द्रव्य, पिष्ट पदार्थों (स्टार्ची द्रव्यों) का पाचन करने वाला पाचक द्रव्य, जल तथा पुरुष पराग भी होते हैं। वस्तुतः मनुष्य शरीर में मिलने वाले तथा मानव देह के लिये हितकारी प्रायः सर्व उपादान न्यूनाधिक मात्रा में मधु में मिलते हैं। मधु में जो शर्करा होती है वह अत्यन्त पचन सुलभ, अविदाहि, उत्तेजक, पोषक, बल्य और हृद्य होती है अतएव अग्निमान्द्य, ज्वर, वमन, तृषा, अम्लावस्था, विषमयावस्था, मधुमेह, श्रान्तावस्था, हृदयदौर्बल्य तथा हृदयावसाद आदि अवस्थाओं में अत्यन्त लाभदायक प्रमाणित

हुआ है। हृदय की दुर्बलता तथा हृद्रोगों में इस समय मधुशर्करा (ग्लूकोज़) एक प्रधान औषधि मानी गई है। रुग्णावस्था के हृदय दौर्बल्य को दूर करने के लिये इसका बहुत प्रयोग होता है। मधु में जो अम्ल होते हैं उनके कारण वह कास, श्वास आदि श्वाससंस्थान के रोगों के लिये भी हितकर होता है। मधु शर्करा में अनेक प्रकार के विषैले पदार्थों के विष प्रभाव को नष्ट करने की शक्ति भी पर्याप्त है।

मधु के आयुर्वेदिक गुण—मधु रस में मधुर, अनुरस में कषाय तथा रूक्ष, शीतल, अग्निदीपक, शरीर की कान्ति और बल का वर्धक, पचने में हलका, लेखन, हृद्य, वाजीकरण, अस्थिसन्धानक, व्रणरोपक, शरीर के सूक्ष्म स्रोतसों में भी प्रविष्ट होने वाला होता है तथा पित्त, कफ और वात का शामक, मेद, प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास वमन, तृष्णा, कृमि और विष को नष्ट करने वाला होता है।

मधु अनेक प्रकार के योगों के साथ प्रयुक्त करने से अनेक रोगों को नष्ट करता है तथा नाना प्रकार के पुष्पों से उत्पन्न होने के कारण सर्वोत्तम योगवाही माना गया है। मधु को किसी प्रकार की उष्णता के साथ प्रयुक्त या सम्बन्धित नहीं रखना चाहिए। अर्थात् स्वयं मधु उष्ण होता है अतः उष्णता से पीड़ित पुरुष को ग्रीष्म ऋतु में तथा गरम करके या गरम पदार्थों के साथ इसे प्रयुक्त न करें। इस तरह मधु स्वास्थ्य संरक्षण और रोगविनाशक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का माना जाता है।

मेदोवृद्धि—जिन लोगों के शरीर में चरबी बढ़ गई हो उन्हें प्रतिदिन पानी में शहद २ तोले मिलाके प्रातःकाल पिलाते रहने से कुछ दिनों में चरबी घट जाती है तथा कफ वृद्धि भी नष्ट हो जाती है।

मद्यव्याख्या—जिस पदार्थ के सेवन करने से शरीर, मन और इन्द्रियों में मद या नशा उत्पन्न हो उसे मद्य कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में मद्यों का अन्तर्भाव अल्कोहल तथा अल्कोहल युक्त पानक वस्तुओं में होता है। अल्कोहल या मद्य का प्रयोग समस्त संसार में अनादिकाल से चला आ रहा है। देव लोग भी सोमरस का पान करते थे। पश्चिमी देशों में इसका प्रचार अत्यधिक है।

मद्यभेद—बीयर, मदिरा और स्पिरिट ये विशिष्ट अल्कोहलयुक्त वस्तुएं हैं। अल्कोहल या मद्य अनेक प्रकार से बनता है। शर्करा अथवा गुड़ को पानी में घोलकर रख देने से किण्वीकरण (फर्मेण्टेशन) होकर मद्य तैयार होता है। इसमें सन्धान के पूर्व यीष्ट या खमीर मिलाने से किण्वीकरण उत्तम होता है।

बीयर वर्णन—जो (यव) से बनने वाली शराब को बीयर कहते हैं। बीयर में १ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक अल्कोहल होता है।

मदिरा—शर्करा के किण्वीकरण से बनाई जाती है तथा उसमें ऐसे पदार्थ मिलाये जाते हैं जिससे वह बिमड़े नहीं। मदिरा में १४ प्रतिशत से अधिक अल्कोहल नहीं होता है।

स्पिरिट या सुरा—खमीर के द्वारा तैयार किये हुए अल्कोहल के आसवन से तैयार होती है। ह्विस्की, ब्रांडी, जिम और रम ये सुरा के मुख्य भेद हैं। इनमें अल्कोहल की मात्रा अधिक पाई जाती है।

ह्विस्की में ४० से ५० प्रतिशत तक अल्कोहल रहता है। गेहूं, जौ आदि अन्न के दानों में माल्ट उत्पन्न करके उसका आसवन किया जाता है।

ब्रांडी—अंगूरों के रस से जो अल्कोहल बनता है उसके आसवन से ब्रांडी तैयार होती है। शुद्ध ब्रांडी में ४६ से ५५ प्रतिशत तक अलकोहल रहता है।

जिम में ४० से ५० प्रतिशत तक अल्कोहल होता है। माल्ट और जौ के मिश्रण से यह पदार्थ तैयार होता है।

विभिन्नजातिमद्यगुण—उक्त विभिन्न जाति के मद्यों का अगर अल्पमात्रा में तथा युक्ति पूर्वक प्रयोग किया जाता है तो वे शरीर में अमृत के समान गुणकारी होते हैं किन्तु अधिक मात्रा में पीने से वे मनुष्य को पतन की ओर बढ़ा देते हैं तथा उन्हें अनेक प्रकार के रोग (हृदय रोग, यकृत् रोग, मस्तिष्क रोग) उत्पन्न हो जाते हैं। अल्पमात्रा में इनका प्रयोग करने से शरीर में इनका प्रभाव एक उत्तेजक औषधि जैसा होता है तथा शरीर में शक्ति उत्पन्न होने में भी सहायता होती है। इनका शोषण बहुत जल्दी तथा पूर्णरूप से होता है। शरीर के पाचक रसों को इन्हें पचाने की आवश्यकता नहीं है। पीने के १०-१५ मिनट के अन्दर ही मद्य शोषित हो के रक्त में पहुंच जाते हैं तथा रक्त के द्वारा वे शरीर के विविधाङ्गों में जाके उन्हें उत्तेजित करने का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। मद्य पीने के पश्चात् मुख की लालाग्रन्थियों का स्राव बढ़ जाता है। आमाशय में मद्य के पहुंचने से अधिक पाचकरस बनता है तथा क्षुधा मालूम होने लगती है किन्तु आमाशय में १० प्रतिशत मद्य पहुंच जाय तो पाचन कम हो जाता है। अत: स्वल्पमात्रा पाचन शक्ति की वृद्धि करती है। रक्त में मद्य के पहुंचने से हृदय उत्तेजित हो जाता है तथा रक्तनलिकाएं अधिक प्रसारित हो उन में रक्त सञ्चार बढ़ जाता है जिससे शरीर में भी अधिक गरमी मालूम होने लगती है तथा अधिक रक्त सञ्चार से उनका मुख, नासा, नेत्र आदि अधिक लाल दिखाई देते हैं। मस्तिष्क भी उत्तेजित हो जाता है, विचार शक्ति बढ़ जाती है तथा मानव शारीरिक या बौद्धिक कार्य अधिक करने लगता है।

आयुर्वेद का मत है कि विधिपूर्वक, उचितमात्र में और योग्य समय में तथा हितकर भक्ष्य भोज्यादि अन्न के साथ एवं स्वबलानुसार प्रसन्न मन से मद्यपान करने से अमृत के समान गुण होता है। अन्यथा विष के समान शरीर को हानि पहुंचाता है। अधिक मद्यपान करने से विचार शक्ति तथा स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है, जिह्वा लडखडाने लगती है, चलने में पैर लडखडाते हैं तथा अन्त में व्यक्ति मूर्च्छित हो के गिर पड़ता है, मस्तिष्क में असर पहुंचने से अण्डसण्ड बकने लगता है। शरीर की सुध-बुध खो देता हैं तथा सड़कों पर या नालियों में मद्यपी अचेत हो के पड़ जाता है। अधिक मद्यपियों की सन्तानों पर भी बुरा असर पड़ता है। अधिक मद्यपान से आमाशय कला लाल और मोटी पड़ जाती है जिससे पाचक रस नहीं बनता। भोजन ठीक नहीं पचता है। मुख से दुर्गन्ध आती है, वमन भी होने लगता है, यकृत् बढ़ जाता है, उसमें वसासञ्चय होने लगती है। योरप आदि शीत प्रधान पाश्चात्य देशों में निवास करने वाले तथा अधिकतर मांसाहारियों में स्वल्प मद्यपान लाभकार होता है किन्तु भारत जैसे धर्मप्रधान उष्ण देश में मद्य स्वल्पमात्रा में भी हितकर नहीं है। क्योंकि धीरे-धीरे मद्य की आदत बढ़ती जाती है और मानव राजसी तथा तामसी हो जाता है। उसका प्रभाव उसके परिवार पर भी बुरा पड़ता है। ऐसे अनेक उदाहरण है कि अधिक मद्यपान से अनेक श्रीमन्त परिवार नष्ट हो गये हैं अतः जहाँ तक हो सके मद्य का प्रयोग न किया जाय। केवल रोगों में उनका औषधिरूप में प्रयोग करना उचित है।

आयुर्वेद के अनुसार मद्य पित्तकारक, अम्ल, रुचिजनक, अग्निदीपक, विरेचक, कफ और वात रोगों का नाशक, हृदय हितकारी, मन को प्रसन्न करने वाला, मूत्र शोधक एवं सर्वेन्द्रियों का उत्तेजक एवं शरीर में स्फूर्ति सञ्चारित करता है।

भेद—(१) **द्राक्षा का मद्य**—हृदय, मस्तिष्क हितकारी तथा यक्ष्मानाशक है।

(२) **खजूर का मद्य**—रुचिकारक, कफनाशक, हृद्य, इन्द्रिय बोधक, बलवर्धक तथा वृष्य होता है।

(३) **सुरा**—कास, श्वास, संग्रहणी, वात और कफ रोगों को नष्ट करती है, पाचन शक्ति बढ़ाती है, अत्यन्त वृष्य है।

(४) प्रसन्ना, (५) कोहल, (६) जगल, (७) बक्कस, (८) सीधु आदि भी अनेक भेद हैं। सुरा के ऊपर का स्वच्छ भाग प्रसन्ना, सुरा या मद्य के नीचे का भाग जगल तथा सुरा कल्क को बक्कल कहते हैं। सीधु का निर्माण गुड़, शर्करा, गन्ने के रस, बहेड़े और जामून के रस से होता है। सब का गुण पृथक्-पृथक् होता है।

आसावारिष्टप्रकरण—आयुर्वेद मतानुसार आसव और अरिष्ट ऐसे दो भेद औषधीय मद्य के प्रमुख हैं। किसी भी वस्तु को बिना उकाले ही उसको पानी में घोल के गुड़ या शर्करा मिला के मिट्टी के बर्तन या काष्ठ ढ़ोल में भर के सन्धान कर १ मास तक रख देते हैं पश्चात् उत्तम फर्मेण्टेशन हो जाने पर छान लेते हैं, इन्हें आसव कहते हैं।

अरिष्ट—किसी भी औषधीय द्रव्य का क्वाथ बना के छानकर उसमें गुड़ या शर्करा में घोल के प्रक्षेप द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर पात्र में भर के सन्धान कर १ मास तक रख देते हैं। फिर उत्तम किण्वीकरण (फर्मेण्टेशन) हो जाने पर उसे छान के बोतलों में भर देंते हैं, इसे अरिष्ट कहते हैं। आसव तथा अरिष्ट मद्य के श्रेणी में नहीं आते हैं क्योंकि इन में अल्कोहल की मात्रा ५ से १० प्रतिशत तक हो सकती है तथा इन में विविध रोग नाशक औषधियों के सार भी सम्मिलित होते हैं अत: ये नशा नहीं करते हैं किन्तु इन्हें भी पीने की मात्रा निश्चित होती है। एक समय में १ से २ तोले की मात्रा है। भोजन के पश्चात् पीते हैं। विभिन्न रोगों के लिये विभिन्न आसव होते हैं। उदाहरणतया हृदय की दुर्बलता में **द्राक्षासव** और अर्जुनारिष्ट प्रसिद्ध हैं। साधारण दुर्बलता में केवल द्राक्षासव उत्तम होता है। इससे क्षुधा अच्छी लगती है, निद्रा उत्तम आती है। शरीर का बल बढ़ता है।

अश्वगन्धारिष्ट—वात रोगों में तथा भ्रम, मूर्च्छा में प्रशस्त है।

लोहासव—पाण्डु, कामला आदि रक्तक्षयजन्य रोगों में प्रशस्त है।

पुनर्नवारिष्ट—शोथनाशक एवं नेत्ररोग तथा मूत्रकृच्छ्र में उत्तम है।

अशोकारिष्ट तथा पत्राङ्गासव श्वेत तथा रक्त प्रदर में उपयोगी हैं।

कुमार्यासव—यकृत् तथा प्लीहा वृद्धि में अच्छा काम करता है।

रोहितकारिष्ट—समस्त उदर रोगों में लाभदायक है।

अभयारिष्ट—मन्दाग्नि तथा विबन्ध में श्रेयस्कर है।

उशीरासव—पित्तविकार तथा रक्तपित्त (रक्तस्राव) में दिया जाता है।

धात्र्यरिष्ट—अम्लपित्त में तथा दाह रोग शमनार्थ दिया जाता है।

इस तरह मद्य तथा आसव और अरिष्ट रोग होने पर डाक्टर तथा वैद्य की सलाह से मात्रानुसार भोजन के पश्चात् सेवन करने से शरीर के विभिन्न रोगों का नाश, स्वास्थ्य की रक्षा और बलवृद्धि होती है।

शुक्त या सिरके—ईख के रस, जामून के रस, गुड़ के रस और शहद् के पानी में किये घोल के द्वारा युक्त या सिरके बनाये जाते हैं। शुक्त अम्ल होने से उष्ण

प्रकृति वाले के लिये रक्तपित्तकारक, दोषों को छेदन करने वाले, पाचन-शक्तिवर्धक तथा कफ, पाण्डुरोग एवं कृमिनाशक होते हैं। इनका प्रयोग भी भोजन के पश्चात् उत्तम होता है।

अनुपान—भोजन के मध्य में तथा भोजन के पश्चात् युक्तिपूर्वक थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिए—**"मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद्भूरि"**।

जल का महत्त्व—भोजन के पूर्व जल पीने से कृशता, मन्दाग्नि एवं दोषकारक होता है। भोजन के मध्य में जल पीने से अग्नि दीप्त होती है तथा भोजन के अन्त में जल पीने से स्थौल्यवृद्धि तथा कफ प्रकोप होता है। अधिक जल पीने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता है तथा जल न पीने से भी पाचन क्रिया नष्ट हो जाती है अतएव बुद्धिमान् पुरुष पाचकाग्नि की वृद्धि के लिये बार-बार थोड़ा-थोड़ा जल पीवे। पानी मनुष्यों के जीवन के लिये अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है, सारा जगत् जलमय है अत: जल का किसी भी दशा में विशेष निषेध नहीं किया गया है। जल के बिना शरीर में अन्न का सुपाचन नहीं हो सकता, जल के बिना शरीरस्थ रक्त शरीर में भ्रमण नहीं कर सकता, जल के बिना शरीर में उत्पन्न हुए अनेक दोष, मल या विष शरीर से बाहर नहीं निकल सकते हैं। शरीर के कोषाणु या सेल जल के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते हैं। इस तरह हमारे जीवन के लिये जल एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु होने के अतिरिक्त संसार की समस्त क्रियाएं जल के बिना नहीं हो सकती हैं। पेड़, पौधे, जानवर तथा जड़ पदार्थों (मकान, कुएं आदि बांध) के निर्माण के लिये भी जल अत्यन्त महत्त्व का है। ईश्वर या प्रकृति ने अपने संसार की रक्षार्थ जल की कितनी सुन्दर व्यवस्था की है, इसकी अनुभूति या प्रत्यक्ष महत्त्व सभी को है।

अत: विचारशील पुरुष अपने तथा सभी के स्वास्थ्य की रक्षणार्थ एवं रोगों के विनाशार्थ तथा बल वृद्ध्यर्थ और तृषाशमनार्थ जल का सदुपयोग करें। प्राय: जल की शुद्धि पर ही स्वास्थ्य का संरक्षण बहुत कुछ अवलम्बित है। वर्षाकाल के प्रारम्भ की एक-दो वृष्टि के हो जाने के पश्चात् आकाश से जो जल गिरता है वह सर्वत्र एक सरीखा गुणों में माना जाता है। किन्तु वह जल जिस प्रकार के वायुमण्डल में से गिरता हुआ पृथ्वी में, या तालाब, नदियों, सरोवर, बावडियों आदि में सञ्चित होता है तदनुसार उसके स्वाद, गुरुता, तघुता, सुपाचक या दुष्पाचक आदि में भेद आ जाता है। प्राय: मलमूत्रादि संसर्ग रहित, मृत जानवर, कूडा कर्कट आदि से रहित एवं अनेक वृक्षों के पत्ते आदि गिरके जहां सञ्चित न होते हों ऐसे स्थान में एवं जिसकी मृत्तिका ऊषर न हो किन्तु रेतीली हो, काली हो या पीले वर्ण की हो, जिसमें कृमि कीटादि का संसर्ग न हो ऐसी भूमि में तथा उस भूमि पर सूर्य की किरणें स्पष्ट पड़ती

हो, शुद्ध वायु का जहां निरन्तर सञ्चार होता रहता हो ऐसे स्थान में सञ्चित हुआ जल तथा जिसमें से थोड़ा-थोड़ा जल निकलता भी रहता हो उस स्थान का जल ठीक है परन्तु स्वास्थ्य कर कूप का जल सदा पीना चाहिए तथा जिस कुएं में कोई उतर के स्नान न करता हो एवं उसमें से सदा जल खेती के कार्य के लिये निकलता रहता हो तथा उसमें सूर्य की धूप, प्रकाश पड़ती हो एवं वायु भी जाती हो उसकी भित्तियां पक्की बंधी हों तथा उसके अन्दर वृक्षों के पत्ते न पड़ते हों एवं आसपास में कोई गन्दा जल सञ्चय न होता हो एवं समीप में कोई गहरे गन्दे पानी के खड्ढे या गन्दा जल न बहता हो वैसे कुओं का जल पीने को उत्तम है। नगरों में स्वास्थ्यविभाग की ओर से जल शुद्धि का पर्याप्त प्रबन्ध रहता है और जल शुद्ध्यर्थ अनेक रासायनिक तथा गैसीय पदार्थ मिलाते हैं वैसे नलों का जल भी पीने के लिये उत्तम है।

शीत या उष्णोदक प्रयोग

प्राय: सदा शीतल जल सब के लिये उपयोगी होता है फिर भी जिन्हें कफ रोग, वातरोग, मेदो वृद्धिरोग, ज्वर आदि हों उन्हें उष्ण जल को थोड़ा सा शीत करके पिलाना चाहिए। स्निग्ध पदार्थ खाने के पश्चात् भी उष्णोदक का पीना प्रशस्त है।

जलस्य विशिष्टवर्णनम्

जीवनं जीविनां जीवो जगत्सर्वन्तु तन्मयम्।
नातोऽत्यन्तनिषेधेन कदाचिद् वारि वार्यते।।

जीव (पानी) जीवित (चैतन्यधर्मयुक्त) प्राणियों (स्वेदज, उद्भिज्ज एवं अण्डज अर्थात् उत्पत्ति, वृद्धि, विनाशशील सृष्टि) के लिये जीवन (रक्षक) है, इसलिए कभी भी किसी भी अवस्था में उसका अत्यधिक निषेध नहीं किया जाता है।

सकलं विश्वं, जलमयम्

पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम्।
अतोऽत्यन्तनिषेधेन न क्वचिद्वारि वार्यते।।
आस्यशोषाङ्गसादाद्या मृत्यूर्वा तदलाभतः।
नहि तोयाद्विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य वा।
केवलं सौषधं पक्वमाममुष्णं हितञ्च तत्।।
समीक्ष्य मात्रया युक्तममृतं विषमन्यथा।।

सर्व प्रकार के प्राणियों के लिए जल प्राण है तथा समग्र विश्व (संसार के घन, द्रव, वाष्पमय समस्त पदार्थ) तन्मय है। अर्थात् जल से बने हैं। इस दृष्टि से किसी भी स्थिति में जल का अत्यन्त निषेध नहीं किया जाता है। जल की प्राप्ति या जल के नहीं पीने से मुख का सूखना, शरीर के समस्त अङ्गों में पीड़ा तथा मृत्यु भी हो

सकती है। स्वस्थ अथवा रोगग्रस्त मनुष्य के लिए जल के बिना उनका जीवित रहना असंभव है। अत: पानी किसी भी अवस्था में पीने के लिए वर्जित नहीं है। इसलिए केवल (अकेला जल) तथा औषधयुक्त, पक्व (गरम किया हुआ), जल भलीभांति मनुष्य की रुग्ण, अरुग्ण अवस्था का विचार करके मात्रापूर्वक देने से वह मनुष्य की रुग्णा या अरुग्णा अवस्था एवं रोगादि की स्थितियों का विचार किये बिना देने से विष के समान हानिकारक होता है।

उत्तमजललक्षणम्

ईषत्कषायं मधुरं सुसूक्ष्मं विशदं लघु।
अरूक्षमनभिष्यन्दी सर्वं पानीयमुत्तमम् ।।

(च. सू. अ. २७)

अच्छा जल स्वाद में कुछ कसेला, मधुर, सूक्ष्म (सर्वत्र प्रवेशनशील), विशद, लघु, अरूक्ष (स्पर्श में रुखा नहीं) तथा अनभिष्यन्दि (अभिष्यन्द या क्लेदकारक नहीं) वह उत्तम होता है।

गुणवज्जललक्षणम्

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
स्वच्छं लघु च हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते ।। (सु.)

गन्धरहित, षड्रसों में से कोई भी रस व्यक्त (प्रतीत) न होता हो, पीने से तृष्णा (प्यास) को नष्ट करने वाला, पवित्र, स्पर्श में शीत, देखने में स्वच्छ, लघु तथा हृदय के लिए हितकारी जल शरीर के लिए गुणकारी होता है।

अन्तरिक्षजलगुणाः

पानीयमान्तरिक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननं श्रमघ्नं क्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमञ्च तदेवावनीपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानविशेषान्नदीनदसरस्तडागवापीकूपचुण्टीप्रस्रवणोद्भिद्विकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति।

(सु. सू. अ. ४५)

सुश्रुत मत से आन्तरिक्ष (आकाश) का जल मधुर, अम्ल आदि स्वादरहित, अमृतसमान गुणकारी, जीवनधारण करने वाला, तृप्तिजनक, देह का धारक, आश्वासजनक, थकान दूर करने वाला, तथा क्लम (सुस्ती) नाशक एवं मद, मूर्च्छा, तन्द्रा, निद्रा और दाह का विनाशक तथा निश्चयरूप से अत्यन्त पथ्य (हितकारी) माना गया है। यही आकाशीय जल जब पृथिवी पर पड़ता है तो स्थानानुसार मधुर अम्लादि

किसी भी रस के साथ मिलकर नदी, नद, झील, तलाब, बावडी, कुआं, चौंडा, झरना, सोता, नीची जगह, जल संग्रहार्थ बनी क्यारियों तथा पल्वलों (पत्तों वाले गढहों) में सञ्चित हो जाता है।

ऐन्द्रमेकविधमपि जलं सोमवाय्वादिसंपर्काद्, बहुविधम्

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्।
तत् पतत् पतितञ्चैव देशकालावपेक्षते ।।
खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः।
शीतोष्णास्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ।।
शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्।
प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ।।
श्वेते कषायं भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम्।
कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम् ।।
कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके।
एतच्छाड्गुणमाख्यातं महीस्थस्य जलस्य हि ।।

(च. सू. अ. २५)

यद्यपि आकाश से वर्षा के रूप में गिरने वाला सभी स्थानों का जल एक ही प्रकार का होता है तथा आकाश से गिरने के कारण उसे ऐन्द्र (इन्द्र सम्बन्धी) जल कहते हैं। आकाश से गिरता हुआ तथा पृथ्वी पर गिर जाने पर देश (भूमि) तथा काल (ऋत्वादि समय) की अपेक्षा करने वाला होता है। अर्थात् वह ऐन्द्र जल कैसी ऊषर मधुरादि रसयुक्त भूमि में तथा किस समय वर्षा शरद् आदि ऋतुओं में गिरता है इसके अनुसार उस जल में गुण उत्पन्न हो जाते हैं। आकाश से गिरता हुआ वह जल काल के अनुसार अपने समय में विविध स्वभाव या गुण युक्त होने वाले चन्द्र, वायु और सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने से तथा शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष आदि पृथिवी के गुणों से संयुक्त होकर शीत, शुचि, शिव (मंगलकारक), मृष्ट (मसृण), विमल और लघु (हल्का) ऐसे छह गुणों वाला होता है किन्तु आकाश से गिरा हुआ उक्त गुणों वाला जल पात्र की अपेक्षा रखता है। अर्थात् जैसे पात्र (स्थान या भूमि) में गिरता है, उसकें अनुसार उसमें शीत, उष्ण, मधुर आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

जैसे श्वेत पृथिवी पर कषाय (कसेला) रस, पाण्डुर (श्वेत रक्त मिश्रित रंग वाली) पृथ्वी पर गिरने से तिक्त (कड़वा = तीता), कपिल (भूरी) पृथ्वी पर गिरने से क्षारीय, ऊषर भूमि पर गिरने से नमकीन, पर्वतीय विस्तार वाली भूमि में गिरने

से कटु (चरपरे) रसवाला एवं काली मिट्टी वाले स्थान पर गिरने से वह जल मधुर रस युक्त होता है। इस तरह पृथ्वी पर गिरे हुए जल में (देशकालानुसार) षड्गुणता उत्पन्न हो जाती है।

ऐन्द्रजलवर्णनम्

यदन्तरीक्षात् पततीन्द्रसृष्टं चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः ।
तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ।।

इन्द्र (मेघों) के द्वारा अन्तरीक्ष (आकाश) से जो जल गिरता है, उसे शास्त्र-निर्दिष्ट ताम्र, मृत्तिका आदि पात्रों में एकत्रित किया जाता है, उसको विद्वान् लोग ऐन्द्र जल कहते हैं तथा वह जल राजा महाराजाओं के पीने योग्य है ।

गगनाम्बुगुणाः

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने ।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम् ।।

(सु. सू. अ. ४५)

अच्छे पात्र में इकट्ठा किया हुआ आकाशीय जल त्रिदोषनाशक, बलवर्द्धक, रसायन तथा बुद्धिवर्द्धक माना गया है । भूमि में गिरा हुआ जल जैसे पात्र में एकत्रित किया गया हो उसके अनुसार गुण वाला हो जाता है ।

दिव्यजलाभावे भौमं जलं ग्राह्यम्

''तस्यालाभे भौमम् तच्चाकाशगुणबहुलम्''

दिव्य (आकाशीय) जल के अभाव में पृथ्वी पर गिरा हुआ भौमजल ग्रहण करें, वह भी अधिकतर आकाशीय जल के अधिक गुणों से युक्त होता है ।

भौमाम्बुभेदाः

''तत्पुनः सप्तविधम् । तद्यथा कौपं, नादेयं, सारसम्, ताडागं, प्रास्त्रवणम् औद्भिदं, चौण्ट्यमिति ।'' (सुश्रुत)

वह भौम जल सात प्रकार का होता है, जैसे कुएं, नदी, सर (झील), ताड़ाग (तालाब), झरना, सोता और चोण्ट्य का जल ।

अन्यमते अष्टविधं तोयम्

कौपसारसताडागचौण्ट्यप्रास्त्रवणोद्भिदम् ।
वापीनदीतोयमिति तत्पुनः स्मृतमष्टधा ।।

कुआं, सारस (झील), तालाब, चौण्ट्य, प्रास्त्रवण (झरणा), उद्भिद (जमीन फोड़के निकला हुआ), बावडी और नदी का जल, ऐसे आश्रय भेद से आठ प्रकार

का जल माना गया है। यह अ. सं का मत है। यहां बावड़ी का कुएं में अन्तर्भाव करके सुश्रुत ने आधार भेद से जल के सात प्रकार ही स्वीकृत किये हैं।

ऋत्वनुसारेण भौमजलसेवनम्

तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत महागुणत्वात्, शरदि सर्वप्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताडागं वा, वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा, ग्रीष्मेष्वेवं प्रावृषि चौण्ट्यमनवमनभिवृष्टं सर्वञ्चेति। (सु. सू. अ. ४५)

वर्षा ऋतु में महागुणवान् होने से आकाशीय अथवा औद्भिद (सोते का) जल एवं शरद् ऋतु में स्वच्छ रहने से सभी प्रकार का जल, हेमन्त ऋतु में झील तथा तालाब का जल, वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में कुएं तथा झरने का जल, प्रावृट् काल (वर्षा के प्रारंभ के समय) में अनव (अर्थात् पुराना तथा अनभिवृष्ट) अर्थात् तत्काल बरसा हुआ न हो, ऐसे सभी प्रकार का जल पीना चाहिए।

ऋतुभेदेन विभिन्नजलगुणाः

गुर्वभिष्यन्दि पानीयं वार्षिकं मधुरं नवम्।
तनुलध्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्षति।।
तत्तु ये सुकुमाराः स्युः स्निग्धभूयिष्ठभोजनाः।
तेषां भक्ष्ये च भोज्ये च लेह्ये पेये च शस्यते।।
राजभिः राजमात्रैश्च सुकुमारैश्च मानवैः।
संगृहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषतः।।
हेमन्ते सलिलं स्निग्धं वृष्यं बलहितं गुरु।
किञ्चित्ततो लघुतरं शिशिरे कफवातजित्।।
कषायमधुरं रूक्षं विद्याद्वासन्तिकं जलम्।
ग्रैष्मिकं त्वनभिष्यन्दि जलमित्येष निश्चयः।।

(च. सू. स. २७)

वर्षा ऋतु का जल पचने में भारी, अभिष्यन्दी (क्लेद कारक) तथा स्वाद में मधुर होता है। शरद् ऋतु में बरसने वाला जल प्रायः पतला, लघु और क्लेद कारक नहीं होता है। ऐसा जल जो सुकुमार तथा स्निग्ध और अत्यधिक भोजन करते हों उनके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय आहार कार्य में प्रशस्त माना गया है। शरद् ऋतु में सञ्चित किया हुआ जल राजामहाराजाओं तथा उनके आश्रित कोमल देह वाले मानवों के लिए विशेषरूप से काम में लेना चाहिए। हेमन्त ऋतु में बरसा हुआ या संचित किया हुआ जल स्निग्ध, वृष्य (कामशक्तिवर्द्धक), बलकारक और भारी होता